वार्षिक रु. १३०, मूल्य रु. १५

विवेक ज्योति

वर्ष ५६ अंक ५
मई २०१८

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर (छ.ग.)

।। आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च।।
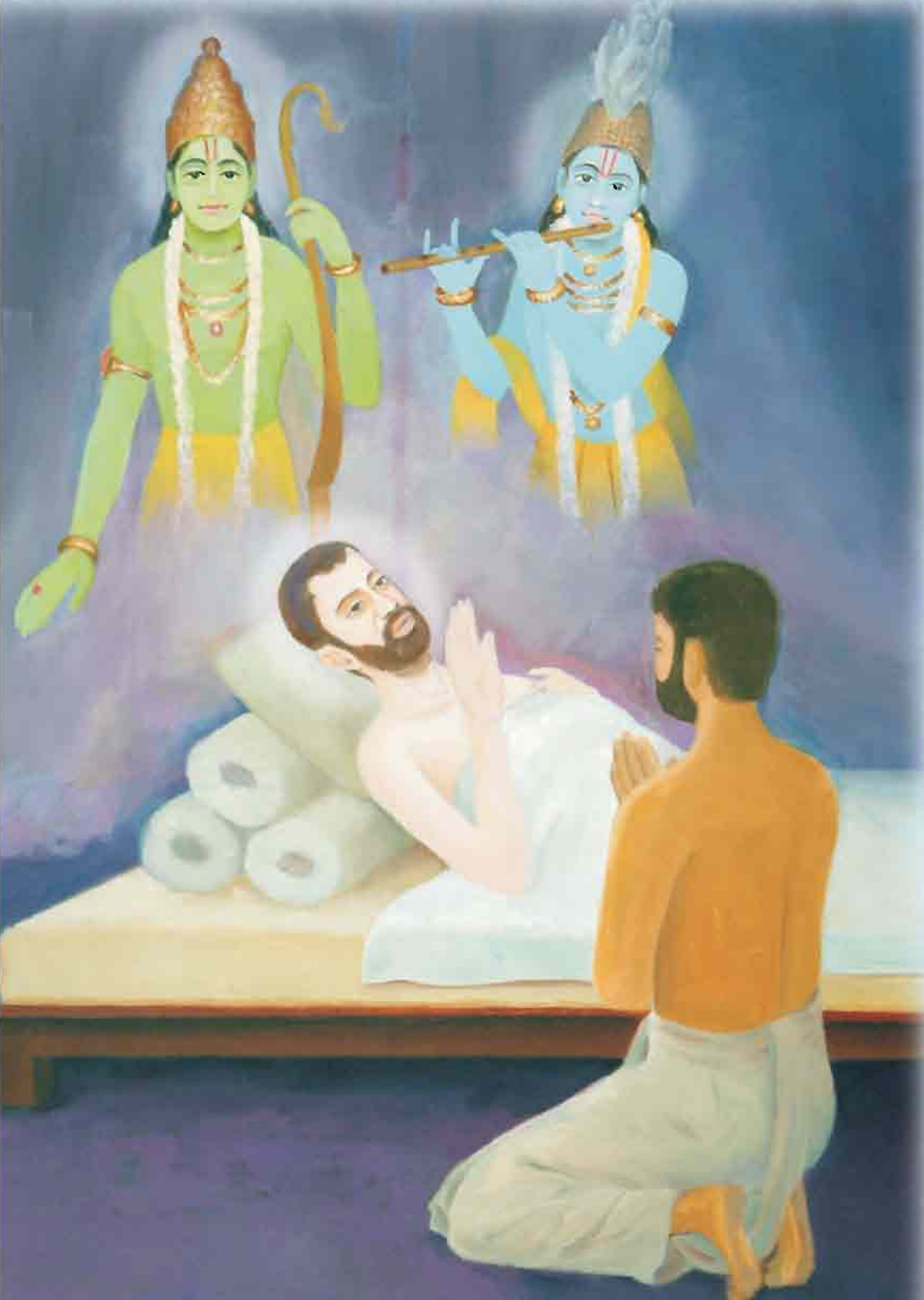
विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

मई २०१८

प्रबन्ध सम्पादक
स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक
स्वामी प्रपत्त्यानन्द

सह-सम्पादक
स्वामी मेधजानन्द

व्यवस्थापक
स्वामी स्थिरानन्द

वर्ष ५६ अंक ५

वार्षिक १३०/– **एक प्रति १५/–**

५ वर्षों के लिये – रु. ६५०/–
१० वर्षों के लिए – रु. १३००/–
(सदस्यता-शुल्क की राशि इलेक्ट्रॉनिक मनिआर्डर से भेजें अथवा **ऐट पार** चेक – 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवाएँ
अथवा निम्नलिखित खाते में सीधे जमा कराएँ :
सेन्ट्रल बैंक ऑफ इन्डिया, **अकाउन्ट नम्बर** : 1385116124
IFSC CODE : CBIN0280804
कृपया इसकी सूचना हमें तुरन्त केवल ई-मेल, फोन, एस.एम.एस., व्हाट्सएप अथवा स्कैन द्वारा ही अपना नाम, पूरा पता, **पिन कोड** एवं फोन नम्बर के साथ भेजें।
विदेशों में – वार्षिक ४० यू. एस. डॉलर;
५ वर्षों के लिए २०० यू. एस. डॉलर (हवाई डाक से)
संस्थाओं के लिये –
वार्षिक १७०/– ; ५ वर्षों के लिये – रु. ८५०/–

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर – ४९२००१ (छ.ग.)
विवेक-ज्योति दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५
ई-मेल : vivekjyotirkmraipur@gmail.com
वेबसाइट : www.rkmraipur.org
आश्रम : ०७७१ – २२२५२६९, ४०३६९५९
(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)
रविवार एवं अन्य अवकाश को छोड़कर

अनुक्रमणिका

विवेक ज्योति के अंक ऑनलाइन पढ़ें : www.rkmraipur.org

आवरण-पृष्ठ के सम्बन्ध में

'जो राम जो कृष्ण, वे ही रामकृष्ण' – इस महान सत्य को दर्शाता हुआ यह चित्रांकन रामकृष्ण मठ, पुणे स्थित चित्र-प्रदर्शनी का है।

मई माह के जयन्ती और त्योहार

१ रामकृष्ण मिशन स्थापना दिवस

विवेक-ज्योति स्थायी कोष

दान दाता	दान-राशि
कुमारी गीता व्यास, गंजीपुरा, जबलपुर (म.प्र.)	५०००/-
श्री सीताराम ठाकुर, ग्रा.कांपा, जिला-बेमेतरा (छ.ग.)	१०००/-

क्रमांक विवेक ज्योति पुस्तकालय योजना के सहयोग कर्ता	प्राप्त-कर्ता (पुस्तकालय/संस्थान)
४५८. श्रीमती नीली श्रीवास्तव, गोमती नगर, लखनऊ	बरनगर कॉलेज, मु./पो.- सरभोग, जिला - बरपेटा (असम)
४५९. श्री श्याम सुंदर सोनी, डोंगरगढ़ (छ.ग.)	भवर सिंह पोर्ते शासकीय महाविद्यालय, पेण्ड्रा (छ.ग.)
४६०. श्रीमती रंजना बी.बी. प्रसाद, ग्वालियर (म.प्र.)	चौ. बल्लुराम गोदरा गवर्नमेंट गर्ल्सकॉलेज, श्रीगंगानगर (राज.)
४६१. श्री नुनियाराम मास्टर, चंडीगढ़	मारकण्डा नेशनल कॉलेज, मु./पो. शाहबाद, जि. कुरुक्षेत्र
४६२. " "	हिन्दू कॉलेज ऑफ एजुकेशन, सोनीपत (हरयाणा)
४६३. " "	डिस्ट्रीक्ट इंस्टीट्यूट ऑफ एजुकेशनएंड ट्रेनिंग, इकस जीन्द
४६४. डॉ. रामकृष्ण जी मिश्र, ब्राह्मणपारा, कसडोल (छ.ग.)	श्री गौरहा शिशुमंदिर, सिविल लाईन्स, कसडोल (छ.ग.)
४६५. श्री आशीष कुमार बॅनर्जी, शंकरनगर, रायपुर (छ.ग.)	शा. मुकुटधर पांडे महाविद्यालय, कटघोरा, जि.कोरबा (छ.ग.)
४६६. श्री प्रभुलाल बी. चौहान, साकोली, जि.भंडारा (महा.)	गवर्नमेंट तुलसी कॉलेज, अनूपपुर (म.प्र.)
४६७. श्री अनुराग,स्व.श्रीरामराज,स्व.श्रीमती उषा प्रसाद,कोलकाता	गवर्नमेंट कॉलेज, मु./पो. देवली, जिला - टोंक (राजस्थान)
४६८. " "	पांडु कॉलेज, पांडु, गुवाहाटी (असम)
४६९. " "	गवर्नमेंट संस्कृत कॉलेज, देवेन्द्र नगर, पन्ना (म.प्र.)
४७०. " "	गवर्नमेंट इंस्टीट्यूट ऑफ गारमेन्ट टेक्नालॉजी, अमृतसर
४७१. " "	स्व. किशोरी मोहन त्रिपाठी गवर्नमेंट वुमेन्स कॉलेज, रायगढ़
४७२. " "	हाडीरानी गवर्नमेंट कॉलेज, करगेटा, सलूम्बर, उदयपुर (राज.)
४७३. " "	डिमोरिया कॉलेज, मु./पो. खेतरी, जिला - कामरूप (असम)
४७४. " "	अक्लिया पॉलीटेक्नीक कॉलेज,गोनियाना मण्डी, भठिण्डा
४७५. श्री सीताराम ठाकुर, कांपा जिला-बेमेतरा (छ.ग.)	शासकीय महामाया महाविद्यालय, रतनपुर (छ.ग.)

वर्ष ५६ मई २०१८ अंक ५

श्रीसारदास्तोत्रम्

न याचे समृद्धिं न चानित्यमायु-
र्न रूपं न धर्मं यशो वा समित्रम्।
अधर्मं न कार्यं न दैन्यं दिवं वा,
मतिर्मे तु भूयात् पदे सारदायाः।।

स्वदेशे-विदेशे भव त्वं दयार्द्रा-
त्वनीचे सुनीचे समाना विधात्री।
जले वा भुवि त्वं प्रजानां शरण्या
नमस्ते नमस्ते पदे सारदाः।।

अजस्रं यथा ते भजाम्यंघ्रियुग्मं
यथा नाम तेऽहं जपामि सचिन्त्यः।
अपूर्वान् गुणांस्ते स्मरामि प्रहृष्ट-
स्तथा सारदा त्वं विधेहि प्रसन्ना।।

यथा जानकी सा सरामा समर्च्या
ह्यसौ राधिका वा सकृष्णा नमस्या।
सती सा सशम्भुर्यथाराधनीया
तथा सारदा मे सश्रीरामकृष्णा।।

पुरखों की थाती

अपि स्वर्णमयी लङ्का न मे लक्ष्मण रोचते।
जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।।५९७।।

– हे लक्ष्मण, मुझे तो यह सोने की बनी हुई लंका भी रुचिकर नहीं लगती; माता और मातृभूमि स्वर्ग से भी अधिक महान् हैं।

यथैकेन न हस्तेन तालिका सम्प्रपद्यते।
तथोद्यम-परित्यक्तं कर्म नोत्पादयेत् फलं।।५९८।।

– जैसे केवल एक हाथ से ताली नहीं बजती, वैसे ही उद्यम किये बिना अपने प्रारब्ध-कर्म भी फलदायी नहीं होते।

वनानि दहतः वह्नेः सखा भवति मारुतः।
स एव दीपनाशाय कृशे कस्यास्ति सौहृदम्।।५९९।।

– जब जंगल में अग्नि लगती है, तो वायु उसकी सहायता करती है, परन्तु वही वायु दीपक की अग्नि को बुझा देती है, इससे सिद्ध होता है कि दुर्बल का कोई मित्र नहीं होता।

विद्या मित्रं प्रवासेषु भार्या मित्रं गृहेषु च।
व्याधितस्यौषधं मित्रं धर्मो मित्रं मृतस्य च।।६००।।

– परदेश में विद्या मित्र है, घर में पत्नी मित्र है, रोग के समय दवा मित्र है और मरे हुए व्यक्ति का एकमात्र धर्म ही मित्र है।

विविध भजन

हे कृपासिन्धु भगवान !

स्वामी रामतत्त्वानन्द

हे कृपासिन्धु भगवान।
हमको भी हे प्रभु दया कर, कृपा का दान।।
जैसे मणि को पद-सेवा का अवसर तूने दिया,
गिरीश घोष का जैसे स्वामी भार सकल लिया।
हे प्रभु अब देरी हुई बहु करो मेरा भी कल्याण।।
जैसे राम केदार ने तव चरण पूजन किया,
जैसे देख तारक को स्वामी असीम स्नेह दिया।
हमें भी अपने प्रेमामृत का करो कृपा कर दान।।
जैसे कराये गोपाल-माँ को कृष्णलीला का पान,
जैसे स्वामी योगानन्द को दिया अभय वरदान।
तुम हो मेरे, मैं बस तेरे, कर दो इतना भान।।

उठ जाग मुसाफिर

उठ जाग मुसाफिर भोर भई,
अब रैन कहाँ जो सोवत है।
जो सोवत है, सो खोवत है,
जो जागत है सो पावत है।।
टुक नींद से अँखिया खोल जरा,
और अपने प्रभु से ध्यान लगा।
यह प्रीति करन की रीत नहीं,
प्रभु जागत है, तू सोवत है।।
नादान भुगत करनी अपनी,
रे पापी, पाप में चैन कहाँ?
जब पाप की गठरी सीस धरी,
अब सीस पकड़ क्यों रोवत है?
जो काल करे सो आज कर ले,
जो आज करे सो अब कर ले।
जब चिड़ियन खेती चुग डाली,
फिर पछतावे क्या होवत है।।

जहाँ सियाराम जी विराजें

स्वामी राजेश्वरानन्द सरस्वती

कनक भवन दरवाजे पड़े रहो।
जहाँ सियाराम जी विराजें पड़े रहो।।
सुघर सोपान सुद्वार सुहावे,
छटा मनोहर मोहे मन भावे।
सुन्दर शोभा साजे पड़े रहो।।
आवत-जात सन्त जन दर्शन,
दर्शन कर सुजन मन हरषत।
देखत कलिमल भाजे पड़े रहो।।
अवध बिहारी सिंहासन सोहै,
संग श्रीजनक-लली मन मोहै।
छबि अति अनुपम छाजे पड़े रहो।।
श्रीसियाराम रूप हिय हारी,
लखि राजेश जाहिं बलिहारी।
कोटि काम रति लाजे, पड़े रहो।।

जग में रामकृष्ण अवतारी

कमलसिंह सोलंकी, 'कमल'

जग में रामकृष्ण अवतारी।
जग में आप, आप में जग है, दुर्लभ शरण तुम्हारी।।
नानक तुलसी हरिदास और नरसी सूर कबीर।
मीरा और रसखान अकिंचन अनगिन भक्त फकीर।
ध्रुव प्रहलाद, विभीषण पायी शरणागति नियारी।।
जग में रामकृष्ण ...
मानस गीता वेद भागवत, श्रद्धा सद्ग्रन्थों में।
ज्ञान कर्म के उपदेशों से भटक रहा पंथों में।।
सत्य वचन तप दया दान करूँ, स्वामी-चरण पुजारी।।
जग में रामकृष्ण ...
भजन और सत्संग गुरु बिन, नहीं सन्तों का संग।
भक्ति रसों से रीती गागर, सूखे नश्वर अंग।
'कमल' आपका भजन अहर्निश, श्वाँसें थकीं हमारी।।
जग में रामकृष्ण ...

वैश्विक आध्यात्मिक संस्थान – रामकृष्ण मिशन का स्थापना-दिवस

भारत विविध धर्म, मत, वर्ण आदि से सम्पन्न देश है। इन विविधताओं में भी इसमें एकता है। ऐक्य में ही मानवता का कल्याण देखकर वैदिक ऋषि के मुखारविन्द से ये ऋचा के स्वर प्रस्फुटित हुये थे –

सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै।।
समानो मन्त्रः समिति समानी
समानं मनः सहचित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः
समानेन वो हविषा जुहोमि।।
समानी व आकूती समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।।

भारतीय संस्कृति की इसी विशेषता से अभिभूत होकर राजा मंगलवेढ़ेकर मुक्त कण्ठ से गा उठे थे –

भिन्नता में अभिन्नता की आज गायें आरती।
कोटि हस्त कोटि पाद, हृदय एक भारती।।...
भिन्न वेश भिन्न भाषा भिन्न धर्म रीति।
भिन्न पन्थ भिन्न जाति फिर भी एक संस्कृति।।

ऐसी है हमारी भारतीय सांस्कृतिक एकता। इस एकता की अक्षुण्णता हेतु मानव-जीवन सामुदायिक एकता सापेक्ष है। इस एकता और संहति में लोक-कल्याण प्रतीत होने पर युगानुसार विभिन्न धर्म, विभिन्न मत और सम्प्रदाय निर्मित हुए। भगवान बुद्ध ने भी बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों को जन-जन में पहुँचाने के लिये सारनाथ में बौद्ध संघ की स्थापना की और अपने भिक्षुओं को देश-विदेश में भेजकर बौद्ध धर्म के शाश्वत सन्देशों का प्रचार-प्रसार कराया।

यद्यपि आध्यात्मिक जीवन बन्धनहीन, असीमित और मुक्त होता है। वह किसी भौतिक विधि-विधान की सीमाओं में आबद्ध नहीं होता है, तथापि उसे लोकहितार्थ विश्वव्यापी अक्षुण्ण स्वरूप देने के लिये संघबद्ध होना पड़ता है। स्वामी विवेकानन्द जी ने भारत-भ्रमण के समय देखा था कि कितने सन्त-महात्मा परिव्रजन करते रहते हैं। यदि वे एक साथ रहकर नियमित दिनचर्या में साधन-भजन और लोगों की सेवा करते, तो उनका कल्याण तो होता ही, जगत का कल्याण भी होता। स्वामीजी को यह बोध हुआ कि बिना संघबद्ध हुये कोई भी बड़ा काम नहीं हो सकता। पाश्चात्य देशों में अपनी विश्वविजयी ध्वजा लहराने के बाद भारत में विभिन्न स्थानों में भ्रमण कर सर्वत्र व्याख्यान देते हुये, राष्ट्रीय जागरण करते हुये स्वामीजी कोलकाता पहुँचे। शनिवार, १ मई १८९७ को अपराह्न तीन बजे के बाद बलराम भवन की दूसरी मंजिल पर एक सभा बुलाकर उन्होंने एकत्रित भक्तों को सम्बोधित करते हुये कहा, "विभिन्न देशों में भ्रमण कर मेरे मन में ऐसी धारणा हुई कि संघ के बिना कोई भी महान कार्य नहीं हो सकता।"[१] इसी दिन 'रामकृष्ण मिशन एसोसिएशन' का श्रीगणेश हुआ। यही वह महान दिवस है, जिस दिन इस विश्वव्यापी 'रामकृष्ण मिशन' की स्थापना हुई, जो आज सम्पूर्ण विश्व में अपने लगभग २०० से भी अधिक केन्द्रों के द्वारा लोक-सेवा में तत्पर है। धर्मों, मतों, सम्प्रदायों में संघर्ष दीर्घकाल से सुनते चले आ रहे हैं। कहीं-कहीं धार्मिक कट्टरता इतनी थी कि दूसरे देवता का नाम न सुनाई पड़े, इसलिये एक ने अपने कानों में घण्टा बाँध रखा था और जैसे ही कोई दूसरा नाम सुनाई पड़ता, वे घण्टा बजा देते थे। उन्हें घण्टाकर्ण के नाम से जाना जाता है। कभी ऐसी कट्टरता थी समाज में !

किन्तु स्वामी विवेकानन्द एक ऐसा संगठन चाहते थे, जो इन क्षुद्र सीमाओं के अतीत, व्यापक, उदार हो और सभी धर्म-सम्प्रदायों के मानवों को गले लगाने को तत्पर हो। रामकृष्ण मिशन एक आध्यात्मिक संस्था है। इसकी सामाजिक, राष्ट्रीय सेवाओं का उत्स और उद्देश्य आध्यात्मिकता ही है। इसके उद्देश्य के सम्बन्ध में स्वामीजी कहते हैं, "इस मठ से सम्पूर्ण विश्व में ठाकुर के उदार भाव का प्रचार होगा, यही उनके सर्वधर्मसमन्वय का प्रधान केन्द्र बनेगा। यहाँ सभी मतों और सभी भावों का समन्वय रहेगा।"[२]

स्वामीजी भक्त और संन्यासी दोनों को सम्बोधित कर कहते हैं, "हमलोग जिनके नाम पर संन्यासी हुए हैं, आप लोग जिन्हें अपने जीवन का आदर्श बनाकर गृहस्थाश्रम रूपी कर्मक्षेत्र में हैं और जिनके देहावसान के बारह वर्ष के भीतर ही प्राच्य एवं पाश्चात्य जगत में जिनके पवित्र नाम तथा अद्भुत जीवन का आश्चर्यजनक रूप से प्रसार हुआ है,

यह संघ उन्हीं के नाम पर स्थापित होगा। हम सब प्रभु के दास हैं, आप लोग इस कार्य में सहायक हों।''[३]

रामकृष्ण मिशन की स्थापना के उद्देश्य और व्रत के सम्बन्ध में स्वामीजी कहते हैं – ''मानवमात्र के कल्याणार्थ श्रीरामकृष्ण ने जिन समस्त तत्त्वों की व्याख्या की है और उनके जीवन द्वारा व्यवहार में जो कुछ प्रतिपादित हुआ है, उनका प्रचार करना और ये समस्त तत्त्व जिस उपाय से मनुष्य के शारीरिक, मानसिक तथा पारमार्थिक उन्नति में सहायक हो सकें, उसमें सहायता करना, यही इस संघ (मिशन) का उद्देश्य होगा।...विश्व के सभी धर्ममतों को एक अक्षय सनातन धर्म के विभिन्न रूप जानकर सभी धर्मावलम्बियों के बीच आत्मीयता स्थापित करने के लिये श्रीरामकृष्ण ने जिस कार्य को प्रारम्भ किया था, उसी को चलाना इस संघ का व्रत होगा।''

स्वामी विवेकानन्द ने मानव के सर्वांगीण विकास का ध्यान रखते हुये कहा कि मानव के भौतिक एवं आध्यात्मिक विकास हेतु विद्याप्रदान करने के लिये योग्य लोगों को शिक्षित करना, शिल्पियों और श्रमजीवियों को प्रोत्साहित करना और श्रीरामकृष्ण के जीवन द्वारा व्याख्यात वेदान्त तथा अन्य तत्त्वों का जन-समाज में प्रचार करना, भारतवर्ष के प्रत्येक नगर में आचार्य-व्रत ग्रहण करने के इच्छुक गृहस्थ तथा संन्यासियों के प्रशिक्षण हेतु आश्रम स्थापित करना और जिससे वे सुदूर स्थानों में जाकर जनता को शिक्षित कर सकें, ऐसी व्यवस्था करना, इस मिशन की कार्यपद्धति होगी। भारत के बाहर अन्य देशों में व्रतधारियों को भेजकर वहाँ स्थापित आश्रमों और भारतीय आश्रमों में घनिष्ठता एवं सहानुभूति बढ़ाना और साथ ही नये-नये आश्रमों की भी स्थापना करनी होगी।[४]

स्वामीजी स्वयं इस संस्थान के प्रधान अध्यक्ष हुये। स्वामी ब्रह्मानन्द जी कोलकाता केन्द्र के अध्यक्ष और स्वामी योगानन्द जी उपाध्यक्ष हुए। एटर्नी बाबू नरेन्द्रनाथ मित्र सचिव और डॉ. शशिभूषण घोष तथा बाबू शरच्चन्द्र सरकार सह-सचिव और शरच्चन्द्र चक्रवर्ती शास्त्र-पाठक नियुक्त हुये। अप्रैल, १९०९ में, १८६० ई. अधिनियम २१ के अनुसार वैधानिक रूप से 'रामकृष्ण मिशन' के नाम से यह पंजीकृत हुआ। तबसे यह संस्थान सम्पूर्ण विश्व में नर-नारायण भाव से शिक्षा, स्वास्थ्य, राहत-कार्य आदि के द्वारा अपनी सेवायें प्रदान करते चला आ रहा है।

स्वामी शिवानन्द जी महाराज ने एक बार कहा था, ''मैं जहाँ कहीं भी रहूँ, मेरा मन बेलूड़ मठ में ही पड़ा रहता है। बेलूड़ मठ में ही श्रीठाकुर का विशेष प्रकाश है। समस्त विश्व में ठाकुर के उदार और महान भावों के प्रचार के लिये प्रधान केन्द्र रूप में स्वामीजी ने बेलूड़ मठ स्थापित करके यहाँ उन्हें प्रतिष्ठित किया था। श्रीमाँ ने स्वयं पूजा करके श्रीठाकुर को यहाँ बिठाया था। श्रीमाँ ने योगीन माँ आदि महिला-भक्तों से एक बार कहा था कि जब वे घुसुड़ी में तपस्या कर रही थीं, तब एक दिन नौका से दक्षिणेश्वर जाते समय बीच गंगा से देखा था कि ठाकुर गंगा के किनारे इसी स्थान पर घूम रहे हैं। तब यहाँ कुछ केले के पेड़ थे। उसी केले के बाग में ठाकुर नंगे बदन टहल रहे हैं। यह देखकर श्रीमाँ ने सोचा, अच्छा, ठाकुर यहाँ क्यों घूम रहे हैं? उन्होंने यह बात उसी दिन संगिनी महिला-भक्तों से कही, तब यह मठ नहीं बना था और न यहाँ मठ बनाने की बात ही थी। मठ तो स्वामीजी ने पाश्चात्य देशों से वापस आकर बनवाया था। मठ के लिये यह स्थान लिया गया है, यह सुनकर श्रीमाँ ने बहुत ही प्रसन्न होकर कहा था – 'ठाकुर ने पहले से ही इस स्थान को पसन्द किया था। गंगा के पश्चिम तट पर स्थित यह स्थान वाराणसी के समान है। यहाँ मठ बनवाकर नरेन ने बहुत अच्छा काम किया है।'''

रामकृष्ण संघ की स्थापना के सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वान रोमाँ रोलाँ लिखते हैं – ''विवेकानन्द द्वारा स्थापित संघ का शुद्ध सामाजिक, लोकोपकारी तथा सार्वजनिक स्वरूप स्पष्ट ही है। अधिकांश धर्म युक्ति-तर्क तथा आधुनिक जीवन की समस्याओं तथा आवश्यकताओं को श्रद्धा का विरोधी मानते हैं, परन्तु उनकी जगह यह संघ विज्ञान के साथ एक ही स्तर पर खड़े होने को प्रस्तुत था, भौतिक तथा आध्यात्मिक प्रगति में सहयोग देनेवाला था और कलाओं तथा उद्योगों को प्रोत्साहित करने वाला था। लेकिन जन-साधारण का कल्याण ही इसका वास्तविक उद्देश्य था। उसके सिद्धान्त का सार था – विभिन्न धर्मों के बीच भ्रातृभाव स्थापित करना, क्योंकि इस समन्वय में ही सनातन धर्म की सत्ता है।''[५] ○○○

सन्दर्भ सूत्र – **१**. युगनायक विवेकानन्द, भाग-३, पृ. १० **२**. शिवानन्द स्मृतिसंग्रह, भाग-३, पृ. ५५६ **३**. युगनायक, भाग-३, पृ. १० **४**. वही, पृ. १० **५**. वही, पृ. १६-१७

निवेदिता की दृष्टि में स्वामी विवेकानन्द (१७)

संकलक : स्वामी विदेहात्मानन्द

१६ मार्च, मैक्लाउड को

पिछले शनिवार की शाम के बाद से मेरी स्वामीजी से भेंट नहीं हुई है। पर मैं तुम्हें बताना भूल गयी कि उन्होंने कहा था, श्रीरामकृष्ण सर्वदा कहते थे, 'लोक ना पोक' (लोग कीड़े-मकोड़ों के समान हैं)। शिकागो में रहते समय उन्हें एक दिव्य-दर्शन हुआ था। दुश्चिन्ता तथा अभाव के कारण वे वहाँ ''अर्धमृत'' के समान धरती पर पड़े हुए थे, तभी वहाँ श्रीरामकृष्ण आविर्भूत हुए और उन्हें स्पर्श करके कहा था, ''उठो, वत्स उठो! ये मनुष्य नहीं, कीड़े-मकोड़े हैं।''

२६ मार्च, श्रीमती बुल को

स्वामीजी हर तरह से कुशल हैं। कल मैं उनका दर्शन करने गयी थी। उन्होंने मेरी पहली दीक्षा के ठीक एक साल बाद कल मुझे नैष्ठिक ब्रह्मचारिणी का व्रत प्रदान किया। इस घटना का विस्तृत विवरण युम (मैक्लाउड) को लिखकर भेजने की इच्छा है – वह तुम दोनों के लिये ही होगा। इस समय मैं तुम्हें पूजा का एक पत्ता भेज रही हूँ – मैंने इसे तुम्हारे लिये विशेष रूप से उनके हाथों भस्म से स्पर्श करा लिया है। यह मजेदार बात है न! कल सुबह उन्होंने मेरी बहु-आकांक्षित पूजा-पद्धति सिखायी। छोटे-से मन्दिर में हमने एक साथ पूजा की। सारे समय वे अति मधुर स्वर में बोल रहे थे, ठीक वैसे ही जैसे वात्सल्यपूर्ण माताएँ बड़ी मधुरता के साथ छोटे बच्चों को सिखाती हैं।

मुझे लगता है कि मुझे उन्होंने इसलिये एक ब्रह्मचारिणी बनाया, क्योंकि वे नैष्ठिक ब्रह्मचारिणियों की पुरानी परम्परा को पुनर्जीवित करना चाहते हैं और शायद इसलिये भी कि मैं उनकी दृष्टि में अभी इससे उच्चतर कुछ पाने के योग्य नहीं हूँ।

२७ मार्च, मैक्लाउड को

मैं मन-ही-मन बारम्बार सोच रही थी कि शनिवार को हुई मेरी दीक्षा का विस्तृत विवरण तुम्हें लिख भेजूँगी। परन्तु अब मुझे इसकी कोई उपयोगिता समझ में नहीं आती। तो भी मैं लिखूँगी।

प्रात:काल आठ बजे मैं मठ में पहुँची। इसके बाद मन्दिर में गयी। पूजा के लिये पुष्प आदि आने के पूर्व तक हम फर्श पर बैठे रहे – स्वामीजी बुद्ध के विषय में बोलने लगे। वे जातक कथाओं का तात्पर्य बताने लगे – दूसरों के लिये पाँच सौ बार जीवन देने पर बुद्धत्व की प्राप्ति होती है। क्या यह उस अवसर के लिये यह एक बड़ा ही अद्‌भुत भाव नहीं था?

इसके बाद पूजा की सामग्री आ गयी और आखिरकार उन्होंने मुझे पूजा की विधि सिखायी। सारे समय अत्यन्त मधुर स्वर में बोलते हुए उन्होंने मुझे सब कुछ सिखा दिया। जो सफेद पुष्प उन्होंने मुझे अपने सिर पर रखने के लिये दिया था, उसे मैंने तुम्हारे लिये अलग रख लिया था, बाद में मैंने तुम्हारे लिये ही उसे उन्हीं के हाथों होम की राख से स्पर्श करा लिया था। इस पर जो छोटा-सा गुलाबी धब्बा है, वह लाल चन्दन का है। परन्तु देखती हूँ कि अब फूल की सारी सफेदी जल चुकी है। इसके बाहर मैं छोटी-सी पंक्ति लिखकर भेज रही हूँ, जिसके बारे में कल मैंने कविता पढ़ी थी। मुझे लगा कि इस कविता में आचार्यदेव का रूप बड़े सुन्दर रूप से प्रकट हुआ है – ''मैं वही गैब्रायल हूँ (इस समय मैं जिस प्रकार कह रही हूँ) मैं ईश्वर के समक्ष दण्डायमान हूँ।'' एक अवतार को प्रणाम करके पूजा समाप्त हुई, जिनका नाम मुझे इस समय याद नहीं आ रहा है। पूजा की वेदी को पुष्पों से सज्जित करने के बाद वे बोले, ''अब थोड़े-से फूल मेरे बुद्ध को दो। यहाँ पर मेरे सिवा अन्य कोई भी उन्हें नहीं चाहता।''[१]

पूजा समाप्त हो जाने के बाद हम होम करने के लिये नीचे गये। ...

अभयानन्द ने कहा कि स्वामीजी के प्रति मेरा स्नेह

---

१. इस घटना के ठीक एक वर्ष पूर्व स्वामीजी ने जब निवेदिता को प्रथम दीक्षा प्रदान किया, तब भी उन्होंने उन्हें बुद्ध का अनुसरण करने को कहा था – ''जाओ, उनका अनुसरण करो, जिन्होंने बुद्धत्व प्राप्ति के पूर्व दूसरों के लिये ५०० बार जन्म लिया था।''

मात्र बुद्धूपना और भावुकतापूर्ण है; क्योंकि वे जो भी देते हैं, मैं खा लेती हूँ; जो भी कहते हैं, मैं वही करती हूँ; और उनकी जो अत्यन्त साधारण बातें हैं, उन पर मैं बीच-बीच में चमत्कृत हो जाती हूँ। परन्तु मेरी दृष्टि में वास्तविकता तो यह है और हर कोई यह जानता है कि मैं उनकी पूजा करती हूँ – और यही सत्य है।

मुझे उसके (अभयानन्द) प्रति उनके व्यवहार में इतनी महानता, इतनी मधुरता, ऐसी विनम्रता दिखाई देती है, जो मेरी कल्पना से भी परे है। न्यूयार्क में एक कक्षा के दौरान समाधि लग जाने के प्रसंग में उन्होंने उससे कहा था, "यह मेरी मूर्खता है, (क्योंकि) एक आचार्य को इस प्रकार समाधि में जाने का कोई अधिकार नहीं है।" अभयानन्द कहती है कि स्वामीजी से उसे यही सर्वश्रेष्ठ शिक्षा प्राप्त हुई है!!!!! देखती हो न, अभयानन्द ने इस बात को स्वीकार कर लिया है।

वैसे मेरी ऐसी रीति नहीं है, ... मैं संन्यासिनी नहीं, ब्रह्मचारिणी हूँ![2]

[मैक्लाउड को लिखा गया यह पत्र बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। इसमें निवेदिता अपने ब्रह्मचारिणी व्रत में दीक्षित होने का वर्णन करती हैं। इसके अतिरिक्त इसमें दो जनों की मृत्यु का भी विवरण है – जिनमें पहले स्वामी योगानन्द थे और दूसरा एक अज्ञात बालक।

श्रीरामकृष्ण के अन्तरंग पार्षद स्वामी योगानन्द विशेष रूप से श्रीमाँ सारदा देवी की सेवा में समर्पित थे। उनकी मृत्यु हो जाने पर श्रीमाँ तथा उनकी मण्डली को जो मर्मस्पर्शी पीड़ा हुई, निवेदिता ने कुछ पंक्तियों में उसका जो वर्णन किया है, वह उन्हीं की लेखनी द्वारा सम्भव है।

स्वामी योगानन्द की मृत्यु का विषय हम बाद में अलग से प्रस्तुत कर सकते थे, परन्तु उसे यहीं स्थान देने का कारण यह है कि इस मृत्यु ने स्वामीजी को बड़ी गम्भीरता रूप से अभिभूत कर दिया था; और निवेदिता के मन पर इसकी प्रतिक्रिया उनके अगले कई पत्रों में अभिव्यक्त हुई है।

२ निवेदिता को स्वामीजी ने संन्यासिनी नहीं, बल्कि ब्रह्मचारिणी बनाया था। अभयानन्द को उन्होंने अमेरिका में संन्यासिनी बनाया था। हमने पहले ही देखा कि संन्यासिनी न बनने के कारण निवेदिता के स्वाभिमान को थोड़ी चोट लगी थी। यहाँ भी वैसा ही दिख रहा है। उनके मन में यह भाव था। परन्तु परवर्ती काल में जब वे राजनीतिक गतिविधियों में लिप्त हुईं, तब उन्हें अनुभव हुआ कि शायद स्वामीजी ने उनका भविष्य जानकर ही उन्हें संन्यासिनी नहीं बनाया।

इस समय के पूर्व के भी कई पत्रों में योगानन्द की बीमारी का उल्लेख हुआ है। यथा १८९९ के ३० जनवरी को उन्होंने मिस मैक्लाउड को लिखा था, "डॉ. सरकार कह रहे हैं कि योगानन्द यक्ष्मा (तपेदिक) के कारण मृत्यु के मुख में हैं। आज मैं श्रीमाँ का दर्शन करने गयी थी, परन्तु योगीन-माँ तथा (उनकी) बेचारी पत्नी का सफेद और सूखा चेहरा देखते ही लौट आयी। ... किसी दिन मैं तुम्हें योगानन्द के विवाह की कहानी बताऊँगी।" ७ फरवरी के दिन उन्हीं महिला को – "जब स्वामीजी को पता चला कि योगानन्द में काफी बल है, तो वे खुशी से नाचने लगे थे। वे उन सभी से कितना प्रेम करते हैं!" २६ मार्च को ओली बुल के नाम पत्र में – "योगानन्द को तुम्हारा सन्देश मिल गया है, क्योंकि वे अभी जीवित हैं, परन्तु सहसा उनकी शारीरिक अवस्था बहुत खराब हो गई है और किसी भी क्षण उनकी मृत्यु हो सकती है। ... मंगलवार को योगानन्द की मृत्यु हो गयी। यह श्रीमाँ के लिये एक बड़ा आघात है।" **(क्रमशः)**

दोहा-दरबार

भानुदत्त त्रिपाठी, 'मधुरेश'

योगी जन ही जानते या कि जानते सन्त।
नित्य एक प्रभुप्रेम है, जिसका आदि न अन्त।।
ज्ञानी-मूढ़-प्रवीण हों, राजा हों या रंक।
प्रभु से पावन प्रेम कर रहते सदा निशंक।।
मैं-मेरा में मर रहा यह सारा संसार।
अमर वही निर्भय वही, जो मैं को दे मार।।
अपना मन मत मार रे! मन को कर बलवान।
मन से ही संसार है, मन से ही भगवान।।
जब तक मिटे न बुद्धि का, जड़ता-जाड़ दुरन्त।
तब तक जीवन-बाग में आयेगा न बसन्त।।
मृत्यु नहीं मरती कभी मरता है संसार।
दस दिन के व्यवहार में मत कर मिथ्याचार।।
तजा न्याय सद्धर्म को तजे सत्य ईमान।
फिर भी मानव मानता, अपने को महिमान।।
जब तक तन में शक्ति है जब तक धन है पास।
तब तक जीवन-बाग में मन का है मधुमास।।
वह सच्चा वीर है वह ही सच्चा धीर।
जो उठता है सूर्य सम घोर तिमिर को चीर।।
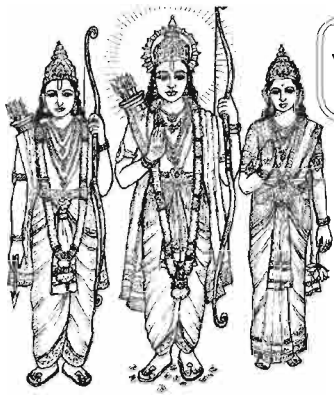
यथार्थ शरणागति का स्वरूप (४/३)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(पं रामकिंकर महाराज श्रीरामचरितमानस के अप्रतिम विलक्षण व्याख्याकार थे। रामचरितमानस में रस है, इसे सभी जानते हैं और कहते हैं, किन्तु रामचरितमानस में रहस्य है, इसके उद्‌घाटक 'युगतुलसी' की उपाधि से विभूषित श्रीरामकिंकर जी महाराज थे। उन्होंने यह प्रवचन रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के पावन प्रांगण में १९९२ में विवेकानन्द जयन्ती के उपलक्ष्य में दिया था। 'विवेक-ज्योति' हेतु इसका टेप से अनुलिखन स्वर्गीय श्री राजेन्द्र तिवारी जी और सम्पादन स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने किया है । – सं.)

महाभारत काल में तो बड़े-बड़े धुरंधर थे, जो इस महारोग से ग्रसित थे। प्रत्येक को यह आशंका सताती थी कि मैंने वचन दिया है, तो उसका किसी तरह से पालन करूँगा। हर जगह यही बात, भीष्म को यही बात सताती थी कि मैंने वचन दिया और वे वचन की रक्षा करने के लिये दुर्योधन के पक्ष से लड़ते हैं। वे यह भी मानते थे कि दुर्योधन ने इतने दिनों तक मेरी सेवा की, मेरा ध्यान रखा। दुर्योधन तो व्यवहार करने की कला में बड़ा निपुण था। आपको किरातार्जुनीयम् नामक पुस्तक में मिलेगा। वहाँ भी सूत्र यही है। पाण्डवों ने सोचा कि दुर्योधन के अत्याचार से सारी प्रजा व्याकुल हो गई होगी। तब उन्होंने गुप्तचर भेजा। उससे कहा कि दुर्योधन के अत्याचार से प्रजा कितनी दुखी है, यह समाचार लेकर आओ। पर जब गुप्तचर आया और उसने जो सूचना दी, उसे सुनकर पाण्डव आश्चर्यचकित हो गये। गुप्तचर ने कहा कि दुर्योधन का तो प्रजा के साथ इतना अच्छा व्यवहार है कि लोग आप लोगों को भूल गये हैं। अच्छा ! दुर्योधन इतना बदल गया? उसने कहा, बदल कुछ नहीं गया है, वह तो जहाँ का तहाँ है।

तथापि जिम्हः स भवज्जिगीषया।

वह तो अत्यन्त कुटिल है। उसने सोचा कि युद्ध क्षेत्र के पहले हम व्यवहार के क्षेत्र में भी पाण्डवों को एक बार हरा दें, एक बार लोगों के मन से युधिष्ठिर की याद भुला दें, फिर युधिष्ठिर के पक्ष में कोई नहीं रह जायेगा, हमारा राज्य निष्कंटक हो जायेगा। उसकी वृत्ति वही है। भीष्म और द्रोण का उन तेरह वर्षों तक, जिन वर्षों में पाण्डव वन में रहे, दुर्योधन ने बहुत सेवा-शुश्रूषा की, बहुत ध्यान रखा। स्वाभाविक है कि वह सुनकर अच्छा नहीं लगता कि भीष्म ने यही कहा कि मैं क्या बताऊँ, मैं दुर्योधन के पराधीन हूँ। उच्च सिद्धान्तों की बात तो दूसरी है, पर भीष्म जैसा व्यक्ति यह कह देता है कि हम क्या कर सकते हैं, हम दुर्योधन के पराधीन हैं। तो महाभारत के उस वाक्य को पढ़कर लगता है कि इतने बड़े महापुरुष के मुँह से क्या इतनी छोटी बात निकलनी चाहिये? उसका अर्थ यों कह लीजिए कि जैसे कोई बोलने वाला हो और बोलने के पहले उसके मुँह में कोई रसगुल्ला ठूँस दे। अब वह रसगुल्ला खाए कि बोले। तो इसका अर्थ यह है कि कभी-कभी अच्छा-भला व्यक्ति भी जब उस तरह से प्रभावित हो जाता है, तो प्रभावित हो जाने के बाद उसको लगता है कि लोग कह सकते हैं कि अगर यह अन्याय था, तो दुर्योधन को आपने पहले क्यों नहीं छोड़ दिया? अगर यह अन्याय था, उस समय आपने विद्रोह क्यों नहीं किया? अब तो लगता है कि डर के मारे ही दुर्योधन का साथ छोड़ रहे होंगे। यह बड़ी विचित्र बात है ! कभी-कभी बड़े श्रेष्ठ व्यक्ति भी चिन्तित हो जाते हैं। यह दुर्बलता बड़े उच्च कहे जाने वाले व्यक्ति में भी पाई जाती है। कर्ण के सन्दर्भ में भीष्म तो विरोध भी करते थे, वे दुर्योधन को फटकारते भी थे, पर दुर्योधन की ओर से लड़ने की बाध्यता अनेक बातों से जुड़ गयी कि मैंने वचन दिया है, तो उसकी ओर से लड़ना मेरा धर्म है। मानो वह शब्द उनके लिये जेलखाना हो गया और वे शब्द के कारागार से मुक्त नहीं हो पाते हैं। वे अन्याय को देखते ही नहीं है। वे अन्यायी का साथ देते हैं, अन्यायी की ओर से युद्ध करते हैं। इसीलिये इस वृत्ति के कारण ही तो भगवान जिस समय सन्धि का प्रस्ताव लेकर गये और जब वह सफल नहीं हुआ तथा वे लौटने लगे, तो कर्ण उनको छोड़ने बाहर तक आया था। भगवान ने कर्ण से यह कहा कि थोड़ी देर के लिये तुम मेरे रथ पर बैठ जाओ, तुमसे एकान्त में कुछ बात करनी है। बड़ी सांकेतिक भाषा है। भगवान ने कर्ण से रथ पर बैठने के लिये क्यों कहा? आगे चलकर अर्जुन ने भगवान को सारथि बनाकर अपने रथ पर बैठाया। भगवान का तात्पर्य मानो व्यंग्यात्मक था कि तुम तो मुझे अपने रथ पर बैठाओगे नहीं, तो चलो थोड़ी देर मेरे रथ पर बैठ जाओ। मैं जानता हूँ कि तुम मुझे निमन्त्रित नहीं करोगे।

तुम तो जब सारथि बनाओगे, तो शल्य को ही बनाओगे। शल्य रथ-संचालन की कला में बड़ा निपुण था। यह शल्य अभिमान का प्रतीक है। कृष्ण तो साक्षात् भगवान हैं हीं। हम भगवान को रथ की बागडोर सौंपते हैं कि अभिमान को? अभिमान साधारण कुशल नहीं है। अभिमानी व्यक्ति बड़ी-से-बड़ी सफलता प्राप्त करते हैं, बड़ी-से-बड़ी उन्नति करते हैं। कोई व्यक्ति बड़ी-बड़ी सफलता को, बड़ी बड़ी उन्नति को, बड़े कार्यों को ही किसी व्यक्ति के बड़प्पन का मापदण्ड मान ले, तो वह व्यक्ति भ्रमित हो सकता है। वह तो अभिमान के द्वारा भी हो सकता है। बाद में भगवान ने कर्ण से यही कहा, तुम जानते हो कि तुम कौन हो? उसे बताया, पर कर्ण उसे सुनने की स्थिति में नहीं था। कर्ण ने यही कहा, महाराज, दुर्योधन ने मेरे प्रति इतने दिनों तक सहानुभूति रखी, मुझे राज्य दिया और आज यदि मैं दुर्योधन का साथ छोड़ दूँगा, तो लोग मुझे क्या कहेंगे ! लोग यही तो कहेंगे कि यह कायर है। जब तक इसका स्वार्थ था, तब तक आनन्द लेता रहा और अन्त में जब युद्ध की स्थिति आ गई, तो यह डर के मारे चला गया। यह वृत्ति कर्ण जैसे व्यक्ति में थी। कई लोग इसे कर्ण का बहुत उच्च कोटि का गुण मानते हैं। बहिरंग दृष्टि से यह गुण लगता भी है, पर आप विचार करके देखिए, उसके मूल में उसका अभिमान था। उसके मूल में धर्म नहीं, अभिमान है। पता कब चला, जब भीष्म सेनापति थे और दुर्योधन ने भीष्म से पूछा, दोनों सेनाओं में बड़े-बड़े महारथी कौन हैं? तो सब महारथियों का नाम उन्होंने लिया, तो दुर्योधन चकित रह गया कि इसमें कर्ण का नाम है ही नहीं। दुर्योधन तो कर्ण पर ही पूरा भरोसा करता है, क्योंकि अर्जुन को हराने वाला कर्ण है। उसने सोचा, वृद्धावस्था में स्मरण शक्ति थोड़ी कमजोर हो जाती है, पर क्या इतनी कम हो जाती है कि इतना बड़ा योद्धा महारथी सामने बैठा है और उसका नाम नहीं ले रहे हैं। पूछ दिया, क्या आप महारथी कर्ण को भूल गये क्या? भीष्म ने कहा, अरे यह महारथी थोड़े ही है, यह तो अधिरथी है। क्या उद्देश्य था? पता चल गया। तुरन्त कर्ण क्रोधित हो गया और उसने यही कहा, तुम मेरा अपमान करते हो? मैं निश्चय करता हूँ, जब तक जीवित रहोगे, मैं नहीं लड़ूँगा। कर्ण के अभिमान का पता चल गया। अगर सचमुच दुर्योधन के प्रति इतना ममत्व है, तो कह सकता था कि तुम भले ही मेरा अपमान करो, लेकिन मैं तो मित्र के प्रति समर्पित हूँ। पर जहाँ अपने मैं की बात आई, उसने छोड़ दिया। यही तो अन्तर है हनुमानजी में।

हनुमानजी रावण की सभा में गये। क्या कहना है हनुमानजी की शक्ति का ! रावण अपमानित करने लगा। बँधवा कर मँगवाया जो है। हनुमानजी ने यही कहा, कोई बात नहीं, तुम दस बात कह लो, चाहे जितना अपमान कर लो, लेकिन मैं तो अपने प्रभु का कार्य करूँगा –

मोहि न कछु बाँधे कइ लाजा।
कीन्ह चहउँ निज प्रभु कर काजा।। ५/२१/६

मैं तो प्रभु का दूत हूँ, मेरा क्या अपमान होगा? यह दर्शन मानो अभिमानमुक्त हनुमानजी की वाणी है। पर कर्ण की यह वाणी कि जब तक तुम जीवित रहोगे, मैं नहीं लड़ूँगा, कहाँ गया वह मैत्री धर्म? कहाँ चली गई कृतज्ञता? अगर उसको लगने लगे कि यह सही दिशा नहीं है, यह उचित कार्य नहीं है, तो उसे छोड़ने में उसके मन में कोई चिन्ता नहीं होनी चाहिये। मानो यह भय अच्छे कहे जाने वाले व्यक्तियों में भी होता है। वही आशंका विभीषण के मन में है। अब इतने वर्षों तक रावण ने अत्याचार किया, पाप किया, तब तो कोई विरोध नहीं किया। अब आज मैं जब जाऊँगा, तो लोग कहेंगे कि प्राण का डर आया सामने, तब यह भाग खड़ा हुआ। कहा भी गया और आज तक लोग कहते ही रहते हैं। विभीषण को लोगों ने कोई बहुत सम्मान नहीं दिया। आज भी साधारण व्यक्ति यही कहता है कि 'घर का भेदी लंका ढाए', इसी रूप में देखता है।

कहाँ बिभीषनु भ्राताद्रोही। ६/४९/३

मेघनाद भी जब आक्रमण करने आता है, तब कहता है, वह भ्रातृ विरोधी विभीषण कहाँ है, जिसको हमारे पिता ने इतना सुख दिया, इतना सम्मान दिया, इतने दिनों तक रक्षा की और जब संकट आया, तो भाग खड़ा हुआ। वाल्मीकि रामायण में यह संवाद आता है । मेघनाद ने कहा कि तुम्हें लज्जा नहीं आती है, जिस लंका में तुम रहे और आज तुम निकलकर भाग खड़े हुए? उस समय विभीषण ने जो उत्तर दिया वह बड़ा विवेकयुक्त था। उन्होंने दृष्टान्त दिया कि किसी घर में आपका जन्म हुआ हो, जहाँ आप पले हों, बहुत सुख पाया हो, किन्तु उस घर में आग लग जाये, तो आप यह सोचें कि जिस घर में इतना सुख मिला, तो उस घर को कैसे छोड़ें, कैसे निकल कर बाहर चले जायँ? तो बैठे रहिए भीतर, समाप्त हो जाइए घर के साथ। आप बड़े वीर हैं, जिस घर में जन्में, खाया-पीया, वहीं मरेंगे।

अरे बाहर निकलना ही सबसे बड़ी बुद्धिमानी है। अगर वह घर को बचाना भी चाहेगा, तो वह घर से बाहर निकल कर ही, आग बुझाने की चेष्टा करके घर को बचा पायेगा। घर के भीतर रहकर आप आग को कैसे बुझायेंगे। बाहर आकर आग को बुझाने का उनका तात्पर्य था कि मैं तो वस्तुत: लंका की रक्षा करने के लिये, उस बुराई से लंका को बचाने के लिये यदि लंका से निकल कर आया और तुम कहते हो कि मेरा यह कार्य भ्रातृ-द्रोह है ! विभीषण तो बाद में आ सके, प्रारम्भ में विभीषण यदि नहीं आ सके थे, तो यह उनकी दुर्बलता थी और साथ-साथ यह डर तो उनमें था ही कि भगवान राम यह कहेंगे कि आज तक तुम कहाँ थे? मुझे स्मरण आता है, होशंगाबाद मध्यप्रदेश का एक नगर है। वहाँ से एक युवक ने पत्र लिखकर मेरे पास भेजा। उसने कहा कि रामायण में मुझे एक पंक्ति असह्य लगती है। वह असह्य पंक्ति यह है कि युद्ध में इन्द्र ने प्रारम्भ में तो रथ नहीं भेजा, पर जब श्रीराम जीतने लगे, तो उसने रथ भेज दिया। तुलसीदासजी के प्रति नाराजगी प्रगट करने के लिये उसने शब्द लिखा था, 'लिख मारा ।' जब रथ आया, तो गोस्वामीजी ने लिखा – **ता पर हरषि चढ़ेउ**।

भगवान राम प्रसन्नतापूर्वक उस रथ पर चढ़ गये। इस नवयुवक ने लिखा कि अगर राम के स्थान पर मैं होता, तो लात मारकर रथ को लौटा देता कि जा तेरे रथ की आवश्यकता मुझे नहीं है। तेरे रथ के बिना भी मेरा काम चल जायेगा। मैंने कहा, राम में और आप में यही तो अन्तर है। आप लात मार कर किसी को लौटा सकते हैं, पर वे तो किसी को लौटा नहीं सकते। लौटाना उनका स्वभाव नहीं है। श्रीराम का दर्शन यह नहीं है कि अब तक क्या किया। भगवान राम से कोई पूछे कि यह अब तक क्यों नहीं आया? भगवान राम कहेंगे, अब तो आया। यदि वे पुराने खाते का इतना हिसाब-किताब करने लगें, भगवान ही अगर इस प्रकार से खाता खोलकर बैठ जायँ, तो यह ठीक नहीं। कर्म सिद्धान्त में खाता खोलनेवाले चित्रगुप्त, यमराज तो हैं हीं, लेकिन भगवान के यहाँ की स्थिति को भक्तों ने बड़े भावनात्मक स्वर में कहा। गोस्वामीजी ने एक दिन भगवान राम से कहा – प्रभु, आप मुझे शरण में लेने के लिये बाध्य हैं। क्यों बाध्य हैं? तुम में ऐसी कौन-सी विशेषता है? कोई विशेषता नहीं है। मैं जानता हूँ कि मैं मरूँगा, तो नरक में ही जाऊँगा। जब यमराज मुझे देखेंगे, तो चित्रगुप्त से कहेंगे कि लाओ इसके पाप का खाता। महाराज जब मेरे लाखों करोड़ों जन्मों के खाते आने प्रारम्भ हो जायेंगे, तो उसे देखकर यमराज ही व्याकुल हो जायेंगे कि भई, कितने खाते हैं इसके? महाराज समस्या यह आ जायेगी कि जीव तो हर क्षण मर कर नरक में आते ही रहते हैं, तो मेरे कारण सबका हिसाब-किताब रुक जायेगा। तो सोचेंगे कि इस व्यक्ति के कारण हजारों का न्याय रुक गया, ऐसे में तो और किसी का न्याय ही नहीं हो सकेगा, इसलिये इसको यहाँ से निकाल दीजिये। वहाँ से निकालकर जब मुझे स्वर्ग में ले जायेंगे, तो स्वर्गवाले तो मुझे स्थान देंगे ही नहीं, क्योंकि मेरे पास पुण्य है ही नहीं। जब स्वर्ग में और नरक में स्थान नहीं मिलेगा, तो वे आपके पास ही ले जाकर कहेंगे कि इसे तो आप ही रख लीजिए, इस झंझट से मुक्त कीजिए। इतना चक्कर काट कर आपको रखना पड़े, इससे अच्छा है कि आप सीधे ही रख लीजिये, क्यों इतना मुझे घुमा-फिरा कर आप शरण में लेंगे। मानो उसमें सांकेतिक भाषा यह है कि भई, जिसको हम ईश्वर की करुणा कहते हैं, उसका अभिप्राय पाप का समर्थन नहीं है, बुराई का समर्थन नहीं है।

स्वामीजी महाराज (स्वामी सत्यरूपानन्दजी) ने एक दिन कहा था कि जब हमारे मन में यह संकल्प आ जाय कि ठीक है मुझसे बुराई हो चुकी है, पर अब भविष्य में नहीं करेंगे, तो उस समय करुणा की याचना करें। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि हम भविष्य में भी वही करते जायँ। अगर कर्म सिद्धान्त यह कह दे कि व्यक्ति को कर्म के फल को तो भोगना ही होगा, तब तो व्यक्ति कभी भी इस चक्रवृद्धि ब्याज से मुक्त नहीं हो सकता। इससे मुक्त होने का तो एक मात्र उपाय यही है, जिसे कहते हैं, शरणागति। **(क्रमश:)**

यदि भौतिक दृष्टि से बड़े होना चाहो, तो विश्वास करो – तुम वैसे ही हो जाओगे। मैं एक छोटा-सा बुलबुला हो सकता हूँ, तुम पर्वताकार ऊँची तरंग हो सकते हो, परन्तु यह जान रखो कि हम दोनों के लिए पृष्ठभूमि अनन्त समुद्र ही है। अनन्त ब्रह्म हमारी समग्र शक्तियों तथा बल का भण्डार है और हम दोनों ही उससे अपनी इच्छा-भर शक्ति संग्रह कर सकते हैं। इसलिए अपने आप पर विश्वास करो।

– स्वामी विवेकानन्द

ईशावास्योपनिषद (५)

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी महाराज रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम के संस्थापक सचिव थे। उन्होंने यह प्रवचन संगीत कला मन्दिर, कोलकाता में दिया था। – सं.)

मुण्डकोपनिषद भाष्य में श्रीशंकराचार्यजी उपनिषद शब्द का अर्थ बताते हैं –

ये इमां ब्रह्मविद्यामुपयन्त्यात्मभावेन श्रद्धाभक्तिपुरःसराः सन्तस्तेषाम् गर्भजन्मजरारोगाद्यनर्थपूगं निशातयति परं वा ब्रह्म गमयत्यविद्यादिसंसारकारणं चात्यन्तमवसादयति विनाशयतीत्युपनिषत्, उपनिपूर्वस्य सदेरेवमर्थस्मरणात्। उपनिषद शब्द की यह व्याख्या शंकराचार्य ने की है। उप-नि-पूर्वस्य-सदेः-एवमर्थस्मरणात् , जब सद् धातु में ये दो उप और नि उपसर्ग लग जाते हैं, तो उपनिषद का यही अर्थ होता है। उप का अर्थ होता है समीप और नि का तात्पर्य होता है आत्यन्तिक रूप से। तो ये इमाम् आत्मविद्याम् उपयन्ति आत्मभावेन – जो इस आत्मविद्या के निकट इस विद्या को बिल्कुल अपना मानकर के जाते हैं, उन लोगों के गर्भजन्य जरा-रोगादि ये जो अनर्थगुण हैं, अनर्थसमूह हैं, इस अनर्थसमूह का यह उपनिषद विद्या नाश कर देती है। परं वा ब्रह्म गमयति – यह विद्या उसे परमतत्त्व के पास ले जाती है। फिर कहते हैं अविद्यादि-संसार-कारणम् च अत्यन्तम् अवसादयति, जो संसार-कारण अविद्या है, जो दुख है, जिसका बन्धन हमें सालता रहता है, उसको आत्यन्तिक रूप से यह विद्या शिथिल कर देती है, इस अज्ञान का आत्यन्तिक रूप से नाश कर देती है। यह उपनिषद विद्या है।

ईशावास्योपनिषद कर्म और ज्ञान के बीच में सेतु स्थापित करने का कार्य करती है। एक युग था, जब कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड में बहुत झगड़ा चलता था। यहाँ कर्मकाण्ड को एक नया मोड़ दिया गया है। द्रव्य यज्ञ की बात हम गीता में विस्तार से पढ़ते हैं। द्रव्यों की सहायता से जो यज्ञ सम्पन्न होते हैं, वे द्रव्य यज्ञ हैं। ईशावास्योपनिषद में इस द्रव्य यज्ञ को एक नया मोड़ दिया है। गीता का निष्काम कर्मयोग भी ईशावास्योपनिषद में निहित है। यदि ऐसा कहें कि ईशावास्योपनिषद रूपी बीज को लेकर गीतारूपी वटवृक्ष निकला है, तो इसमें कहीं पर कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। हम यह कह सकते हैं कि गीता ईशावास्योपनिषद की एक बड़ी सुन्दर व्याख्या है। यहाँ पर वह कर्मयोग हमें बीज रूप में प्राप्त होता है। सबके भीतर में भगवान विराजमान हैं, यह ज्ञान ही त्याग है। त्याग के द्वारा संसार की वस्तुओं का उपभोग करो। किसी के धन का लालच न करो, धन भला किसका है? इस सम्बन्ध में मुझे एक घटना का स्मरण हो रहा है –

इंगरसोल अमेरिका के बड़े नास्तिक विचारक हुए। वे अपने जमाने में बहुत प्रसिद्ध थे। स्वामी विवेकानन्द के समकालीन थे। स्वामी विवेकानन्द से एक बार इंगरसोल की भेंट हुई। इंगरसोल ने वहाँ के समाचार पत्रों में प्रकाशित हुये विवेकानन्द के व्याख्यानों को पढ़ा था। आप तो जानते ही हैं कि स्वामी विवेकानन्द ईसाई मिशनरियों पर बड़े रुष्ट थे। जिस प्रकार से अमेरिकन ईसाई मिशनरियों ने और इंग्लिश ईसाई मिशनरियों ने भारत के सम्बन्ध में, अमेरिका इत्यादि देशों में दुष्प्रचार किया था, इसके कारण किसी का रुष्ट होना बहुत ही स्वाभाविक है। एक दिन स्वामीजी से भेंट होने पर इंगरसोल ने कहा – "स्वामीजी, अगर आप पचास वर्ष पहले यहाँ आकर के ऐसी बात कहते, तो लोग पत्थर मार-मारकर आपकी हत्या कर देते। आपकी बातें इतनी तीखी हैं। स्वामीजी ने मुस्कुरा करके पूछा - तीखी तो हैं, पर सत्य नहीं हैं क्या? तीखा सत्य भी सहन नहीं होता है। इंगरसोल ने कहा – आपने जिस सत्य का उद्घाटन किया, वह बहुत तीखा है और जिस ढंग से सत्य को रखा, वह भी बहुत तीखा है। उसके बाद इंगरसोल और स्वामीजी में बातचीत होती है। इंगरसोल ने विनोद करते हुए कहा कि क्या बात है? आप तो धर्म इत्यादि की बात करते हैं, मैं तो ईश्वर को नहीं मानता। मैं तो संसार को एक रसीले फल के समान मानता हूँ और बस इस रस का आनन्द लेना चाहिए । स्वामीजी ने हँसकर के कहा कि हम भी तो यही मानते हैं कि यह संसार रसीले फल के समान है और इस रस का आनन्द ले लेना चाहिए, उपयोग करना चाहिए। इंगरसोल ने चकित होकर के कहा – अच्छा, तो आप भी इस संसार को एक रसीले फल के समान मानते हैं?

स्वामीजी ने कहा – हाँ ! इंगरसोल ने पूछा – तब आपकी बात में और हमारी बात में अन्तर क्या हुआ? स्वामीजी ने कहा कि अन्तर यह है कि तुम केवल इतना जीवन ही मानते हो कि बस यही सब कुछ है और इसलिए उस फल का रस निकालने में तुम्हें बहुत हड़बड़ी रहती है कि जाने कब यह जीवन-दीप बुझ जाये, रस पूरा निकले या न निकले, आपाधापी में तुम रस निकालते हो, उसका उपभोग करते हो। पर हम यह जानते हैं कि यह जो जीवन है, वह अनन्त है, असीम है। केवल यही जीवन हमारी सीमा नहीं है और इसीलिए हम आनन्द के साथ उस रस का उपभोग करते हैं, कोई आपाधापी नहीं, एक बूँद भी हम नहीं छोड़ते हैं, पूरा रस निकाल लेते हैं। यही अन्तर है।

हमारा अध्यात्म ज्ञान भी कहता है कि संसार का रस निकालो, उसका उपभोग करो और जो भौतिकवादी हैं, वे भी यही कहते हैं। अन्तर यही है कि भौतिकवादी भाग रहा है कि कब यह जीवन हाथ से निकल जाये। लेकिन अध्यात्मवादी कहता है, जीवन हाथ से निकलेगा कहाँ? जायेगा कहाँ? हम तो अनन्तस्वरूप हैं। यह उसका विश्वास है।

इस प्रकार उन्होंने प्रथम मन्त्र में ज्ञान और दूसरे में कर्म, पहले में सिद्धान्त, तो दूसरे में प्रयोग या आचरण की चर्चा की। पहले में विचार, तो दूसरे में आचार की चर्चा की। ये दोनों साथ-साथ चलते हैं और इन्हें साथ-साथ चलना चाहिए। कोरा सिद्धान्त किसी काम का नहीं है। हम केवल कर्म ही करते रहें और उसके पीछे ज्ञान का आधार न हो, तो वह भी किसी काम का नहीं। वह केवल भ्रम होता है। इसलिये दोनों को मिलकर चलना चाहिए।

यहाँ कर्म करते हुए सौ वर्ष तक जीने की इच्छा व्यक्त की गई। इच्छा करे, इसका मतलब है कि उसमें जिजीविषा बनी रहे। मनुष्य में जिजीविषा कब बनी रहती है? जब उसे लगता है कि उसका जीवन सार्थक है, तब। जिस दिन मनुष्य को ऐसा लगने लगा कि मेरा जीवन निरर्थक है, उस दिन उसकी जिजीविषा समाप्त हो जाती है। अवकाश प्राप्त करने के बाद उसे लगता है कि वह बेकार हो गया है, किसी काम का नहीं रहा।

किन्तु यहाँ बताया जा रहा है कि मनुष्य मृत्युपर्यन्त काम का है। वह अपने लिए काम का है, समाज के लिए काम का है। यदि जीवन में उसे इसका ज्ञान रहे, इस ज्ञान के साथ जीवन में कर्म करता रहे, तो उसके लिए तो जीवन सार्थक है ही, समाज के लिए भी उसका जीवन सार्थक हो जाता है।

मनुष्य की दो समस्याएँ हैं। एक तो आजकल की वृद्धावस्था की समस्या है। यह समस्या पहले भारत में नहीं थी। यह वृद्धावस्था की समस्या आयातित है। बाहर के देशों में मनुष्य वृद्ध हो जाता है। स्वाभाविक ही अपने परिवार वालों के लिए किसी काम का नहीं रहता है। परिवार वाले भी ऐसा सोचते हैं, वह स्वयं भी ऐसा सोचने लगता है। दूसरी अवकाश की समस्या है। मनुष्य के पास अवकाश है, तो कैसे समय बिताये? यहाँ दो समस्याओं का उल्लेख किया गया – वृद्धावस्था की समस्या और अवकाश की समस्या कि समय कैसे बितायें। यहाँ दोनों समस्याओं का समाधान किया गया – 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समा: एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।' अर्थात् जो नर यह सोचता है कि मेरा शरीर है, मैं शरीरवान हूँ, मैं देहवान हूँ, ऐसा जो शरीराभिमानी, देहाभिमानी जीव है, उसके लिए कर्म करना छोड़ करके दूसरा कोई उपाय नहीं है, केवल इसी उपाय के द्वारा तुम इस बंधन को काट सकते हो। यहाँ पर यही कहा गया कि तुम कर्म करते हुए सौ साल तक जीने की इच्छा करो, यह परम आयु है। भारत में आजादी के समय यहाँ की औसत आयु उनतीस वर्ष की थी। अभी देखिए चालीस वर्षों में यहाँ की औसत आयु चौवन वर्षों की हो गयी। धीरे-धीरे उसे बढ़ाया जाये, बाहर के देशों अमेरिका, इंगलैंड में बहत्तर से चौहत्तर तक की औसत आयु है। अगर उसे बढ़ाकर के और अधिक अस्सी वर्ष तक ले जाया जाय, तब तो समझ लीजिए, वेदों में जो सौ वर्ष की आयु वाला व्यक्ति कहा गया है, हम उसके करीब ही पहुँच जा रहे हैं। औसत आयु यदि पचहत्तर वर्ष की पहुँच गयी, तो इसका मतलब है कि कुछ लोग सौ वर्ष के होंगे ही। पुराणों में जो हजारों वर्ष की बातें लिखी हैं उनको आप गणित की दृष्टि से मत देखिए। वेदों में सबसे पुराना ग्रंथ जो ऋगवेद है, वहाँ पर भी मनुष्य की परम आयु को सौ साल ऐसा कहा गया है। छान्दोग्य उपनिषद में कहा गया कि आयु का सैकड़ा एक सौ सोलह वर्ष का है, हो सकता है कोई एक सौ पचीस साल जीवित रहे। यह जो आयु का सैकड़ा है, वह है एक सौ सोलह वर्ष का। चौबीस साल अध्ययन, फिर चौवालिस साल गृहस्थ आश्रम में खूब कर्मयोग किया। उसके बाद दूसरों के लिए जीवन बिताया

शेष भाग पृष्ठ २३१ पर

श्रीरामकृष्ण और गौरी माँ

स्वामी तन्निष्ठानन्द

रामकृष्ण मठ, नागपुर

(अनुवाद : मीनल जोशी, नागपुर)

(गतांक से आगे)

गौरी माँ दक्षिणेश्वर में रहते समय श्रीमाँ के कहने पर श्रीठाकुर अपने कमरे में क्या कर रहे हैं, यह देखने जाती थीं। कमरे में न मिलने पर उन्हें गंगा किनारे अथवा बगीचे में ढूँढ़ती थीं। क्योंकि ठाकुर भावावस्था में कहीं भी चले जाते थे। एक दिन उन्होंने देखा कि ठाकुर समाधि-अवस्था में गुलाब के बगीचे में खड़े हैं। उनकी धोती, गुलाब की झाड़ियों में अटकी हुई है। गौरी माँ ने धोती वहाँ से निकाली और लोगों की मदद से उन्हें कमरे में लेकर आयीं। बहुत देर बाद ठाकुर को बाह्य ज्ञान हुआ। उन्होंने गौरी माँ से कहा, ''अरे, मैं श्रीकृष्ण की वृन्दावन लीला देख रहा था। यमुना के तट पर कदम्ब वृक्ष के नीचे श्रीकृष्ण बाँसुरी बजा रहे थे। मैं वह धुन सुनकर उधर भाग रहा था।'' ऐसा कहते-कहते वे समाधिस्थ हो गये। तब बहुत रात हो चुकी थी। गौरी माँ ने श्रीठाकुर की देह में गड़े काँटों को एक-एक कर निकाला और उन्हें प्रकृतिस्थ किया।

कभी-कभी तो श्रीठाकुर गंगा किनारे भावावस्था में मिलते थे। एक दिन वे अन्तिम सीढ़ी पर बैठे थे। गंगा दर्शन करते-करते समाधिस्थ हो गये। किसी दिन गौरी माँ ने देखा, श्रीठाकुर अपने कमरे के बरामदे से हाथ हिला-हिलाकर बोल रहे हैं, ''माया आओ, आ जाओ माया !'' गौरी माँ ने पास जाकर उनसे पूछा, ''बाबा, ये सब क्या है? माया को क्यों बुला रहे हैं?'' श्रीठाकुर ने कहा, 'अरे तुम नहीं समझोगी। आजकल मन सदा उच्च भावभूमि पर रहता है। इसलिए माया को बुला रहा था, जिससे माया में पड़कर और कुछ दिन भक्तों के साथ रह सकूँ।''

एक बार ठाकुर ध्यान में इतने भाव विभोर हो गए कि उनकी बाह्य संज्ञा लुप्त हो गयी। उनकी समाधि का प्रभाव पास में बैठे राखाल, योगीन, लाटू आदि युवकों में संक्रमित हुआ। वे लोग भी भावावेश में बाह्य संज्ञाशून्य हो गये। उसी समय गौरी माँ वहाँ आयीं। उन्होंने इस घटना को देखा। गौरी माँ ने कुछ लोगों को बुलाकर उनकी सहायता से युवकों को अन्यत्र ले जाने की व्यवस्था की। वे स्वयं श्रीठाकुर के पास रहकर उन्हें देखने लगीं। बहुत देर बाद जब ठाकुर प्रकृतिस्थ हुए, तब उन्होंने गौरी माँ से कहा, ''अरे सब बच्चे कहाँ हैं? और यहाँ क्या हो रहा है?'' गौरी माँ ने उत्तर दिया, ''वे बच्चे भूमि पर लोट रहे हैं। बाबा, ये तो विभूति का खेल है।'' ठाकुर ने कहा, ''कुछ तो नहीं। तुम्हें तो कुछ भी नहीं हुआ।'' गौरी माँ ने कहा, ''मेरा और क्या होना है?'' इस प्रकार बातचीत के दौरान ठाकुर पुन: भावाविष्ट हो गए। गौरी माँ ने देखा – पूरा कमरा सुनहरे रंग से भरा हुआ है। इतना ही नहीं, उनकी स्वयं की देह और गेरुए वस्त्र सुनहरे दिखने लगे। चारों ओर देखकर गौरी माँ ने कहा, ''बाबा, ये क्या हो रहा है?'' थोड़ी देर बाद श्रीठाकुर के मुख से शब्द बाहर आने लगे ''ग... न... ग....न...'' अर्थात् नदिया के गौरांग ! ठाकुर श्रीगौरांग के भाव में लीन थे। इसलिए सारा वातावरण गौरांगमय हो गया था। गौरी माँ ठाकुर को बारम्बार प्रणाम करने लगीं।

ठाकुर सहजावस्था में आते ही पूछने लगे, ''राखाल, कहाँ है? उसने कुछ खाया या नहीं? अहा ! बच्चे को भूख लगी होगी।'' गौरी माँ ने कहा, ''अब आप राखाल के बारे में पूछ रहे हैं। पर अब तक कौन कहाँ था, कुछ भी ध्यान नहीं था। आपने भी अभी तक कुछ खाया नहीं है। चलिए, आपको कुछ खाने को देती हूँ। ठाकुर ने कहा, ''मुझे थोड़ा पानी देना।'' गौरी माँ ने उन्हें थोड़ी मिश्री और पानी दिया। ठाकुर ने थोड़ा पानी पिया। एक स्थान पर बिना धोए हुए पत्ते पड़े थे। उसकी ओर इशारा करते हुए ठाकुर ने कहा ''बेटी उसे धोकर रखना।'' गौरी माँ पत्ते धोने लगीं। ठाकुर पुन: समाधिस्थ हो गए। गौरी माँ को अब ज्योति दर्शन होने लगे। उस समय उन्हें ठाकुर का शरीर और सम्पूर्ण कक्ष श्यामवर्ण दिखने लगा। फिर से सब कुछ नीले रंग में परिवर्तित हो गया। गौरी माँ ने यह दृश्य जी-भर के अपने मन में संचित किया। वे ठाकुर की अतुलनीय महिमा का मन-ही-मन ध्यान करते हुए स्तुति करने लगीं। श्रीमाँ सारदा देवी ने यह दृश्य अपने कमरे के बाहर आकर चटाई के झरोखे से देखा। बहुत देर बाद ठाकुर का नि:स्पंद भाव, स्वाभाविक होने लगा। वे स्पष्ट वाणी में कहने लगे,

''ब्रजधाम का जो कृष्ण, वही मैं रामकृष्ण, ब्रजधाम के कृष्ण ही रामकृष्ण !'' फिर सहजावस्था में आकर कहने लगे, ''मैं उनके चरणों की रज हूँ।'' श्रीठाकुर ने गौरी माँ को पूछा, ''तुम्हें मेरे बारे में क्या लगता है?'' गौरी माँ ने कहा, ''मैं क्या बोलूँ? आप तो अद्वितीय और सबसे ऊपर हैं।'' इस पर श्रीठाकुर ने कहा, ''ये क्या है?'' गौरी माँ ने कहा, ''आप अद्वितीय हैं। अर्थात् आपके जैसा दूसरा कोई नहीं है और आपके ऊपर भी कोई नहीं है।'' यह सुनकर श्रीठाकुर जोर से हँसने लगे।

श्रीठाकुर ने गौरी माँ से पूछा, ''बेटी, तुम्हें क्या चाहिए? बहुत-से लोग कितना कुछ माँगते हैं। तुम अपनी अभिलाषा बताओ।'' गौरी माँ ने अन्त:प्रेरणा से कहा, ''मुझे राधा के रंग में रंगा हुआ श्रीकृष्ण चाहिए।'' श्री ठाुकर ने हँसते-हँसते कहा, ''तुम्हारा सब कुछ अद्भुत है। श्रीराधा की अंगकान्ति से कृष्ण रंगे हुए हैं। वे गौरवर्ण दीख रहे हैं।'' इस प्रसंग के बाद श्रीमाँ और गौरी माँ ने आनन्द से विभोर होकर सब के लिये भोजन की व्यवस्था की। गौरी माँ की स्पष्ट धारणा हो गयी कि उन्होंने बाल्यकाल से जिस 'गौरांग' की पूजा की है, वे ही अभी श्रीरामकृष्ण के रूप में अवतरित हुए हैं। गौरी माँ में नदिया के गौरांग का प्रगटभाव देखकर ठाकुर और श्रीमाँ उन्हें 'गौरदासी' कहने लगे।

गौरी माँ ने दक्षिणेश्वर में पौष माह में तथा उसके बाद आनेवाली फाल्गुन द्वितीया को ठाकुर का जन्मोत्सव सादगी से मनाने का निश्चय किया। यद्यपि ठाकुर को यह अच्छा नहीं लगता था, फिर भी वे भक्तों के आग्रह को मान लेते थे। परम भक्त बलराम बाबू ने इस उत्सव में सहायता की। गौरी माँ ने जन्मोत्सव की पूरी तैयारी की। उस दिन बलराम बाबू और अन्य ८-१० भक्त उपस्थित थे। गौरी माँ ने ठाकुर को चौपाई पर बैठाकर उनके शरीर में तेल-हल्दी का उबटन लगाया। उसके बाद अनेक तीर्थों से बड़े परिश्रम से लाए हुए जल से स्नान कराने लगीं। इतना आदर-सत्कार देखकर बालक-स्वभाव ठाकुर ने पूछा, ''आप लोग ये सब आज क्यों कर रहे हैं?'' गौरी माँ ने कहा – आज आपका जन्मदिन है । स्नान के बाद उन्हें नयी बनारसी धोती और उत्तरीय पहनायी गयी। ठाकुर ने हँसकर कहा, ''गौरदासी, तुमसे कुछ कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि कभी मैंने तुमसे कहा था कि पीली धोती पहनूँगा। तुमने वह याद रखा और लेकर आयी।'' ठाकुर को पीत वस्त्र (पीताम्बर), उत्तरीय, चंदन, तिलक और पुष्प-मालाओं से सुशोभित किया गया था। उपस्थित भक्तों को वे साक्षात् गौरांग महाप्रभु के रूप में दीख रहे थे। सबको अपार आनन्द हुआ। बाद में ठाकुर ने दो दिन उस वस्त्र को पहनने के बाद मथुरबाबू के लाये हुए वस्त्र की तरह उसे भी फेंक दिया।

गौरी माँ के लिए दक्षिणेश्वर में बिताया हुआ समय अत्यन्त आनन्दप्रद और फलप्रदायक था। उनके मन में विशिष्ट साधना करने की अभिलाषा थी। वे साधना करने के लिए कभी-कभी व्याकुल हो जाती थीं। फिर उन्हें लगता था कि ठाकुर ही सब कुछ हैं, तो अन्यत्र कहीं जाने की क्या आवश्यकता है? किन्तु अचानक एक दिन श्रीठाकुर ने उनसे कहा, ''बेटी, तुम्हारी वह साधना बाकी है। तुम क्यों नहीं कर लेती?'' किन्तु गौरी माँ के मनोभाव को जानकर ठाकुर ने कहा, ''क्या होगा दूर जाकर? जिसका मन गुरु के पादपद्मों में समर्पित है, उसके हृदय में ही वृन्दावन है। जिसका यहाँ है, उसका वहाँ है।'' ऐसा कहकर तुरन्त उन्होंने कहा, ''नहीं, जाकर साधना करो और शीघ्र वापस आ जाओ।'' गौरी माँ दुविधा में ठाकुर से आज्ञा लेकर वृन्दावन धाम चली गयीं।

वृन्दावन धाम में यमुना के तट पर एक रावल नाम की निर्जन गुफा में गौरी माँ ने साधना प्रारम्भ की। वे सूर्योदय से सूर्यास्त पर्यन्त निराहार एक ही आसन पर बैठकर नौ महीने साधना करती रहीं। इधर ठाकुर की लीलासमाप्ति का समय आया। गले में रोग हो गया था। दवा और पथ्य की सुविधा के लिए उन्हें कलकत्ता लाया गया। गौरी माँ ठाकुर के दर्शन के लिए व्याकुल थीं, पर साधना समाप्ति के कुछ ही दिन बचे थे। ठाकुर के कहने पर गौरी माँ को संदेश भेजा गया, किन्तु उन्हें वह समय पर मिला नहीं। अन्तिम समय तक गौरी माँ से भेंट नहीं होने पर ठाकुर ने कहा, ''इतने दिन पास रहकर भी भेंट न हो सकी। यह बात मेरे हृदय को मानो बिल्ली के समान कुरेद रही है।'' साधना समाप्त होने के बाद वे वृन्दावन आईं, तब तक सब कुछ समाप्त हो गया था। ठाकुर का देहावसान हो गया था। गौरी माँ पितृछायाहीन बेटी की तरह रोने लगीं। उन्हें लगा कि अन्त समय में ठाकुर ने मुझे दूर क्यों रखा? अब इस शरीर का क्या प्रयोजन है? दामोदर शिला को गले में बाँधकर वे पर्वत की चोटी से कूदकर देह त्यागने के लिए उद्यत हुईं। क्या आश्चर्य ! ठाकुर सामने प्रकट हुए और उनकी भर्त्सना करने लगे, ''क्या मैं मर गया हूँ कि तुम संसारी लोगों की तरह देह-त्याग करने जा रही हो? सबमें जाग्रत होऊँगा,

इसलिये तुम लोगों की दृष्टि से ओझल हुआ हूँ। तुम लोग ही ऐसा कार्य करोगे, तो मेरा दैवी-कार्य कौन करेगा? मैंने जो कार्य तुम्हें सौपा था, क्या तुम उसे भूल गयी? जाओ, फिर कभी ऐसा मत करना।''

ठाकुर का ऐसा दर्शन पाकर गौरी माँ आश्चर्यचकित हो गयीं। उन्होंने ठाकुर को साष्टांग प्रणाम किया। जब उठकर देखा, तो ठाकुर अन्तर्धान हो गये थे। वे समझ गयीं कि उनका देह-त्याग ठाकुर नहीं चाहते। उनके जीवन का कर्तव्य अभी समाप्त नहीं हुआ है। वे लौट आयीं और वृन्दावन में भंडारा देने का प्रयास करने लगीं। उनके पास पैसे नहीं थे। स्थानीय लोगों की मदद से गौरी माँ ने साधु और दरिद्र-नारायण को पेटभर भोजन कराया। इस संस्मरणीय प्रसंग में गौरी माँ ने अपनी कवित्वपूर्ण भावमय भाषा में 'श्रीरामकृष्ण गीतिका' नामक बंगाली स्तोत्र की रचना की। गौरी माँ द्वारा स्थापित श्रीसारदेश्वरी आश्रम की बालिकाएँ आज भी इस स्तोत्र को गाती हैं। स्तोत्र का भावार्थ है –

श्रीरामकृष्ण-गीतिका

जय सारदावल्लभ, दो पद पल्लव, दीनबन्धु ! दीन अपार।
अशरण-शरण, पतितजन तारण, तुम सम कौन इस संसार?
'गौरी' नाम सेविका तेरी है प्रिय पुत्री तनया तेरी,
सब जग जानें इस नाम।
तुमको खोकर जर्जर अन्तर, किसे बताऊँ व्यथा तमाम।।
नहीं जानती भजन अर्चना, पद-पूजन या स्वल्प साधना,
मात्र दया का सम्बल पाया।
ताप-तप्त मन, हृदय-प्राण तन, शीतलकर दे दो पद छाया।।
वायु प्रबल से जले अनल, तो क्यों न जलेगी बाला।
वासना दधि से, पंचप्राण घृत से क्या होगी आहुति-ज्वाला?
वासना रखने की करूँ न कामना, फिर भी मिटी न साध।
भक्त जनों की चरणधूलि से, आभूषित कर माथ।।
वे लालचरण, जिनके प्राणधन, उन चरणों में करूँ प्रणाम।।
करुणानिधान प्रभु रामकृष्ण नाम को, जो भी जपे एक बार।
परम पुनीत वही, उसके जाति-कुल का करे कौन विचार?
अपने से भी बढ़कर अपना है, जो करे भजन तुम्हारा।
तव पद-निधि, अमृत वारिधि में रहता मगन अपारा।।
जगत भूलकर, 'मैं'पन खोकर, जो जन शरण में आया।
जप-तप-ध्यान, यज्ञ-व्रत-दान, सब तीर्थस्थान फल पाया।।
प्रेम-मूर्ति, अति शान्त प्रकृति है करुणा-दया गठन-आकार।
उज्ज्वल ज्ञान, भक्तिरस-सागर, भावचन्द्र शुभ मूर्ति उदार।।
श्रीपदकमल, कलुष-नाशक, शुभ भक्तिप्रदायक, मुझको ज्ञान।
मैंने नम्रभाव से उनको, पाया परम सम्पदा मान।।
जहाँ सार-प्रभु वहीं हम अपने खोलें गुप्त हृदय के द्वार।
निज इच्छावश, अन्तर-पट को, स्वयं खोल देखें बहु बार।।
ज्यों दरिद्र को धन, चातक को मेघ, सर्प को मणि संसार।
अन्धे की लाठी, डूबते को नाव, मीन को जल आगार।।
सुललित भुज आजानु प्रसारित जिनका अभय वरद शुभ कर।
चांडालों तक को अपनाकर, 'हरि-हरि' गाएँ गद्गद् स्वर।।
अधमोद्धारण, ताप निवारण, नाम से कटते पाप अपार।
श्रीमुख-नाम सुन, सिद्धकाम बन तर जाते सब सहज प्रकार।।

वृन्दावन से गौरी माँ चारधाम यात्रा करने के लिये गयीं और लौटकर वापस कलकत्ता आ गयीं। अब प्रभु श्रीरामकृष्ण इन चर्मचक्षुओं से नहीं दिखेंगे, उनकी अमृत वाणी सुनने को नहीं मिलेगी, यह सोचकर वे बहुत दुखी हुईं। वे दुखी मन को शान्त करने के लिए कलकत्ता के कालीघाट में माँ काली का दर्शन करने के लिये गयीं। जगन्माता का दर्शन करते समय वे व्याकुल होकर रोने लगीं। तभी उन्होंने जगन्माता की मूर्ति में श्रीरामकृष्ण का आविर्भाव देखा। वे अपना दाहिना हाथ हल्के-हल्के अपनी मानसकन्या के सिर पर फेरते हुए सान्त्वना देने लगे।

१९३६ में भगवान श्रीरामकृष्ण देव की शतवार्षिकी जयन्ती के उपलक्ष्य में गौरी माँ ने बड़ा ही सारगर्भित संदेश दिया था, ''मनुष्य सांसारिक जीवन की नश्वर क्षुद्र वस्तुओं में उलझकर और जड़ता के कारण अपना चिरंतन कर्तव्य भूल जाता है। सृष्टि के मोह से स्रष्टा का विस्मरण होता है। मोहमुग्ध मानव को यह बात समझाकर चैतन्य के प्रति जाग्रत करने के लिए श्रीरामकृष्ण देव का अवतरण हुआ था। उनका यह जन्मशती समारोह आज समस्त मानव जाति को इसी शाश्वत सत्य का स्मरण करा रहा है। उनकी जन्मशती का यही संदेश है। उस पुरुषोत्तम का प्रिय सत्य सभी समितियों, समाचार पत्रों के माध्यम से समस्त जगत के नर-नारियों के हृदय तक पहुँच रहा है। पलभर के लिए ही सही, आज सबको उनकी 'माँ' – 'जगन्माता' का मूर्त रूप में अनुभव हो रहा है। सर्वसाधारण की दृष्टि से यही श्रीरामकृष्ण देव की शतवार्षिक जन्म-महोत्सव की परम सार्थकता है।

''महाभाव के मूर्तरूप श्रीरामकृष्ण के सम्बन्ध में जब-जब मैं चिन्तन करती हूँ, तब-तब मेरे मन:चक्षु के सामने आती है – पुण्यतीर्थ दक्षिणेश्वर की वह समाधिमग्न मूर्ति ! और

कानों में गूँजती हैं मधुर पंक्तियाँ –

'आमाय दे माँ पागल करे।

आर काज नेइ आमारे ज्ञान-बिचारे।'

(हे माँ जगदम्बे ! तुम अपनी भक्ति से मुझे पागल कर दो। अब मुझे ज्ञान-विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

''आज इस स्मृति दिवस के अवसर पर ज्ञान-विचार को ठुकराकर हृदय में ज्वलन्त विश्वास जगाओ। जिसके प्रभाव से सोना मिट्टी हो जाता है, मिट्टी सोने में परिवर्तित हो जाती है और मृण्मयी मूर्ति चिन्मयी जगदम्बा के रूप में आविर्भूत होती है, ऐसी असीम शरणागति हृदय में जगाओ। ज्वलन्त विश्वास और शरणागति का भाव हृदय में जाग्रत कर उनके उपदेशों का चिन्तन करो। जिसने अपने अपूर्व त्याग और कठोर ब्रह्मचर्य से अपने पति के व्रत-पालन में सहायता की, उस महान नारी को भी श्रद्धांजलि अर्पण करो। जन्मत: शुद्ध-पवित्रतमा श्रीमाँ सारदा देवी के आशीर्वाद से सबका अन्त:करण तपोभूमि बने।

''प्रभु श्रीरामकृष्ण केवल कर्मसंन्यास के आदर्श और भावभक्ति में ही आत्मविभोर रहनेवाले पुरुष नहीं थे। वे थे शक्ति के एकनिष्ठ पुजारी, महाशक्ति के आगार ! उनकी शक्ति सर्वत्र प्रसारित होकर देश-विदेश में कर्म-ज्ञान-भक्ति-समन्वित सैकड़ों संस्थाओं का निर्माण कर रही है। उनकी शक्ति की महिमा, शक्ति का विस्तार, शक्ति के प्रभाव का क्या वर्णन करें? जीवों के दुख से द्रवीभूत होकर उनके करुणामय हृदय के स्पंदनों से ही विवेकानन्द जी को माध्यम बनाकर देश-विदेश में नररूपी नारायण के सेवाधर्म की स्थापना हुई।

''उनका यथोचित वर्णन कौन कर सकता है? वाणी मौन होकर लौट जाती है। भावनाएँ रुक-सी जाती हैं – विचार विराम, शान्त हो जाता है। कितने ही मत-मतान्तर, परस्पर विरोधी भाव-धाराएँ उनमें मिली हुई हैं। भेद नहीं, द्वेष नहीं, संघर्ष नहीं – महासमन्वय है। विराट पूर्णता ! सभी लोग आज उस पूर्ण पुरुष की जन्मशती महोत्सव के उपलक्ष्य में उनकी चरित्र-गाथा का श्रद्धापूर्वक स्मरण करें। उनके कर्म-ज्ञान-भक्ति के त्रिवेणी संगम में स्नान कर चित्तशुद्धि प्राप्त करें !''**(समाप्त)**

बीती बातें बीते पल

छोटे-से-छोटा कार्य भी मनोयोग से करें

स्वामी ज्ञानेश्वरानन्द जी अमेरिका स्थित शिकागो वेदान्त सोसायटी के संस्थापक थे। वे स्वामी ब्रह्मानन्द महाराज के शिष्य थे। वे जब वाराणसी में थे, तब उन्हें स्वामी तुरीयानन्द जी महाराज का पूत संग प्राप्त हुआ था।

एक दिन उन्होंने ज्ञानेश्वरानन्द जी महाराज को अमुक कार्य करने के लिए कहा, किन्तु उन्हें लग रहा था कि वे वह कार्य नहीं कर पाएँगे। स्वामी तुरीयानन्द जी अप्रसन्न हो गए और उनसे कहा, ''यह क्या? तुम मेरे पास आते हो और ऐसा कहते हो कि तुम यह काम नहीं कर पाओगे? आगे बढ़ो। प्रयत्न करो। हो सकता है कि तुम प्रथम बार में सफल न हो सको। किन्तु लगे रहो और तुम इस भय नामक दुर्बलता के परे हो जाओगे। तब तुम जो कुछ भी कार्य करोगे, तुममें महान शक्ति, सामर्थ्य और उत्साह प्रकट होगा।'' स्वामी ज्ञानेश्वरानन्द जी कहते थे कि स्वामी तुरीयानन्द जी के इस उपदेश ने उन्हें जीवन भर प्रेरणा दी।

स्वामी तुरीयानन्द जी नवागत ब्रह्मचारी और साधकों के आध्यात्मिक जीवन-गठन के प्रति बहुत सचेत थे। आवश्यकता पड़ने पर वे उन्हें कठोरतापूर्वक डाँटते भी थे। साधु-ब्रह्मचारी सदैव उनके सत्संग और सेवा के लिए व्याकुल रहते थे। वे लोग जानते थे कि स्वामी तुरीयानन्द जी महाराज की डाँट-फटकार के पीछे उनका प्रेम-भरा हृदय है, जो सदैव उनके मंगल के लिए ही सोचता है।

एक दिन उन्होंने स्वामी ज्ञानेश्वरानन्द को एक विदेशगामी पत्र देते हुए उस पर टिकट लगाकर डाक में डाल आने को कहा। जब वे पत्र तथा टिकटों को लेकर जा रहे थे, तो हवा से उड़कर एक टिकट खाट के नीचे चला गया। उन्हें इसका पता ही नहीं चला, परन्तु स्वामी तुरीयानन्द जी ने उसे देख लिया। जाते-जाते टिकट कम देखकर ज्ञानेश्वरानन्द जी ने सेवाश्रम के कार्यालय से उसे पूरा करके पत्र को डाक में डाल दिया। स्वामी तुरीयानन्द जी को यह बताने की उनकी इच्छा न थी, परन्तु उनके सामने आकर वे इसे प्रकट किये बिना नहीं रह सके। स्वामी तुरीयानन्द जी अंगुली से फर्श पर पड़े टिकट को दिखाते हुए बोले, ''छोटी-छोटी चीजों में यथावश्यक मनोयोग न देने पर बड़े-बड़े विषयों में कैसे मनोयोग दोगे? ब्रह्मवस्तु में दृष्टि आकृष्ट होने पर छोटी-मोटी बातों का भी ध्यान रहता है।''

इस घटना को बताते हुए स्वामी ज्ञानेश्वरानन्द जी परवर्तीकाल में कहते थे, ''छोटे-से-छोटे नगण्य कार्य को भी उसी प्रकार ध्यानपूर्वक करना चाहिए, जिस प्रकार हम अपनी आध्यात्मिक साधनाएँ करते हैं।'' ○○○

सेब नीचे कैसे गिरा?

ऐसा शायद ही कोई हो, जिसने महान वैज्ञानिक न्यूटन का नाम न सुना हो। न्यूटन का नाम लेने से ही गुरुत्वाकर्षण बल, गति के तीन नियम (Laws of Motion) इत्यादि बातें मन में उभर आती हैं।

न्यूटन का जन्म १६४२ में इग्लैंड के वुल्सथोर्प में क्रिसमस के दिन हुआ था। न्यूटन के जन्म के पहले ही उसके पिता का देहान्त हो गया था। उसकी माँ भी कुछ कारणों से कहीं दूसरी जगह रहती थीं। इसलिए बालक न्यूटन को बचपन में माँ-बाप का प्रेम तो नहीं मिला, पर उसकी दादी उसे बहुत दुलार करती थीं। जब उसकी उम्र बारह वर्ष की हुई, तो उसे घर के पास एक स्कूल में भर्ती कराया गया। स्कूल में न्यूटन स्वयं को बहुत कमजोर समझता था और पढ़ाई के प्रति उसकी अधिक रुचि भी नहीं थी। स्कूल के बाकी छात्र भी उसका मजाक उड़ाते थे, यहाँ तक कि एक बार स्कूल के एक होशियार छात्र ने न्यूटन के साथ बिना कारण हाथापाई की। न्यूटन वैसे तो अपने को कमजोर समझता था, किन्तु उसने उस लड़के का जमकर विरोध किया। यह उसके जीवन की कोई सामान्य घटना नहीं थी। कहते हैं कि इसके बाद न्यूटन ने पढ़ाई में बहुत मेहनत की और उस लड़के से पढ़ाई में आगे निकल गया।

स्कूल में जब बाकी लड़के खेलते थे, तब न्यूटन औजार-पुर्जे इत्यादि लेकर कुछ नया करने की सोचता रहता था। बचपन से ही वह बहुत विचित्र प्रयोग करता था। उसने घड़ी, पवनचक्की, टेलिस्कोप इत्यादि बनाए थे। उसने एक पवनचक्की बनाकर अपने घर की छत पर रखी थी। किन्तु वहाँ हवा अधिक न आने से वह घूमती नहीं थी। उसे एक तरकीब सूझी। उसने सोचा कि क्यों न हवा के बदले चूहे से पवनचक्की चलाई जाए। उसने एक चूहा पकड़ा और उसकी पूँछ बाँधकर उसे पिंजरे में कुछ दूर उसके लिए कुछ खाने के लिए रख दिया। चूहा जैसे ही खाने के लिए आगे बढ़ने का प्रयास करता, तो उसके पीछे के दो पाँव चक्की के ब्लेड पर चलते और इस प्रकार चक्की घूमने लग जाती। उसने एक चार पहियों वाली गाड़ी भी बनाई थी, जिसमें बैठकर व्यक्ति हैंडल घुमाकर गाड़ी चला सकता था।

स्कूल में उसने अपने सहपाठियों को विशेष प्रकार की पंतगें उड़ाना सिखाई थीं। रात में वह पतंग के साथ जलती हुई कागज की लालटेन बाँध लेता और उड़ाता। गाँव के लोग देखकर अवाक् हो जाते और उन्हें लगता था कि कोई प्रकाशमान तारा ऊपर उड़ रहा है। ये सब प्रयोग हमें भले ही आजकल नए नहीं लगें, किन्तु आज से लगभग ३५० साल पहले कोई ऐसा सोच भी नहीं सकता था।

न्यूटन की उम्र पन्द्रह वर्ष हो गई थी और उसकी माँ चाहती थीं कि उनका बेटा खेती का काम करे। उन्होंने उसे स्कूल छुड़वा कर खेती के काम में लगाया और खेती सम्बन्धी वस्तुओं की खरीद-बिक्री आदि के लिए उसे बाजार भेजने लगीं। किन्तु शीघ्र ही उसकी माँ को समझ में आया कि उनके बेटे को विज्ञान, गणित पढ़ने में अधिक रुचि है, इसलिए उसे फिर से ग्रान्थम स्कूल में भर्ती कराया गया। कुछ महीने यहाँ पढ़ने के बाद वह अपने चाचा की सहायता से कैम्ब्रिज के ट्रिनेटी कॉलेज में पढ़ने गया। इस प्रकार गाँव का एक सीधा-साधा लड़का एक बहुत बड़े विश्वविद्यालय में पढ़ने गया।

कैम्ब्रिज में ही न्यूटन की असाधारण प्रतिभाएँ विकसित होने लगीं। ५ जून, १६६० में अठारहवें वर्ष में न्यूटन ने इस विश्वविद्यालय में प्रवेश ग्रहण किया। यहाँ उन्होंने बाइनोमियल थैरम, इंटिग्रल और डिंफरीशयल केल्कुलस इत्यादि विषयों में बहुत खोज की । इन गणित फॉर्मूलों का आज भी बहुत उपयोग होता है। इस प्रकार कैम्ब्रिज में न्यूटन ने चार वर्ष बिताए। १६६५ में वहाँ एक बहुत बड़ी महामारी फैल गई और कॉलेज बन्द होने के कारण उन्हें अपने गाँव लौटना पड़ा। अपने गाँव में उन्होंने प्रिज्म का उपयोग कर इन्द्रधनुषी तरंगों के बारे में खोज की और एक विशेष टेलिस्कोप बनाया।

यद्यपि हमारे भारतीय खगोलशास्त्री भास्कराचार्य ने १२ वीं शताब्दी में गुरुत्वाकर्षण का उल्लेख अपनी पुस्तक 'सूर्य सिद्धान्त' में किया है, तथापि न्यूटन को सबसे अधिक जिस खोज के लिए याद किया जाता है, वह है उनकी गुरुत्वाकर्षण

शेष भाग पृष्ठ २३३ पर

प्रसन्नता

स्वामी मेधजानन्द

स्वामी विवेकानन्द से एक बार किसी ने पूछा था कि आप इतना हँसी-मजाक और विनोद क्यों करते हैं? स्वामीजी ने विनोदपूर्वक कहा, ''जब मुझे पेट-दर्द होता है, तभी मैं गम्भीर हो जाता हूँ।'' कुछ लोग ऐसे होते हैं, जिनके मुख पर सदैव प्रसन्नता झलकती रहती है। वे भले ही अधिक बात न करें, किन्तु उनसे बात करने पर हमारा बिगड़ा हुआ मिजाज भी ठीक हो जाता है। इसके विपरीत कुछ लोगों का चेहरा सदैव मुरझाया हुआ रहता है और उनसे बात करने पर हमारा अच्छा मूड भी बिगड़ जाता है।

स्वाभाविक है, जब जीवन में दुख-कष्ट आते हैं, तब व्यक्ति उदास हो जाता है। किन्तु कभी-कभी प्रसन्न अथवा उदास रहना, एक आदत-सी बन जाती है। एक सेठजी अपने रसोइए को बहुत डाँट रहे थे। उनसे किसी ने पूछा कि आप इसे क्यों डाँट रहे हैं? सेठजी ने कहा कि इसने सब्जी में नमक अधिक डाल दिया है। अगले दिन रसोइए ने सब्जी में ठीक नमक डाला, किन्तु सेठ जी ने फिर से डाँटना शुरू कर दिया। डाँटने का कारण पूछा, तो कहा कि आज तो इसने नमक ठीक डाला है, किन्तु कल अधिक डाल दिया था। इस प्रकार के लोग दुख का कोई कारण न होते हुए भी सब ऋतुओं में दुखी और चिड़चिड़े रहते हैं।

प्रसन्न व्यक्ति अनुकूल परिस्थितियों में स्वस्थ-चित्त तो रहता ही है, अपितु प्रतिकूल परिस्थिति आने से भी व्यथित नहीं होता। वह वस्तु-स्थिति को विभिन्न दृष्टिकोण से देखता है। उसकी चिन्तन-प्रणाली भी स्वस्थ रहती है। उसके मन का सन्तुलन बना रहता है और प्रतिकूल परिस्थितियों में भी वह अपनी भूमिका सहज निभाता है। उदास अथवा चिड़चिड़ा व्यक्ति वस्तु-स्थिति से पूरी तरह परिचित नहीं हो पाता। थोड़ी-सी भी विपत्ति आने से वह तुरन्त अपना सन्तुलन खो बैठता है।

प्रसन्न होने का यह अर्थ नहीं है कि व्यक्ति बिना बात भी हँसता रहे। प्रसन्नता एक आन्तरिक दैवी गुण है। एक गम्भीर व्यक्ति भी प्रसन्न रह सकता है, जबकि सदैव हँसने वाला व्यक्ति भी अप्रसन्न रह सकता है। यह मन की आन्तरिक सन्तुलित अवस्था है। ऐसा व्यक्ति किसी परिस्थिति के कारण उत्तेजित नहीं होता।

अब, प्रश्न यह है कि हम सदैव प्रसन्नता कैसे बनाएँ रखें? सबसे पहली बात यह है कि हमें जो क्षमताएँ, सुविधाएँ अथवा अन्य परिस्थितियाँ प्राप्त हुई हैं, उन्हें हम स्वीकार करें। हमें जो भी आन्तरिक और बाह्य अवस्थाएँ प्राप्त हुई हैं, उन्हें हमें बिना किसी दूसरे से तुलना किए स्वीकार करना चाहिए। यदि हम दूसरों से तुलना करेंगे, तो अप्रसन्न होंगे। दूसरी बात, अपने लक्ष्य का निर्धारण कर प्राप्त परिस्थितियों में जो ग्राह्य है, उसका विकास करें और जो त्याज्य हैं उन्हें दूर करने का प्रयत्न करें। उदाहरण के तौर पर यदि किसी को चिकित्सा-शास्त्र, इंजीनियरिंग अथवा व्यापार-वाणिज्य में शीर्ष स्थान पर पहुँचना है, तो उसे एकाग्रता, बुद्धिमत्ता, पुरुषार्थ इत्यादि का विकास कर अपने ज्ञान का विकास करना है और इसके विपरीत आलस्य, निद्रा इत्यादि का त्याग करना है। इसके अलावा जीवन में धैर्य और सन्तोष होना चाहिए। जो व्यक्ति अधीर होता है, वह बहुत शीघ्र चिड़चिड़ा हो जाता है और अपनी मन की शान्त, प्रसन्न अवस्था गँवा बैठता है।

धर्म हमें यह शिक्षा नहीं देता कि हम सदैव दुखी और उतरा हुआ चेहरा बनाकर रहें। धर्म तो 'अमृतस्य पुत्राः' – अमृत की सन्तान कहकर हमारा आह्वान करता है। भगवान श्रीरामचन्द्र के बारे में वर्णन आता है कि जब उन्हें वनगमन जाने के लिए कहा गया, तब भी उनकी प्रसन्नता म्लान नहीं हुई थी – *तथा न मम्लौ वनवासदुःखतः*।

हम देखते हैं कि जिनके पास समस्त सांसारिक वैभव हैं, उनका मुख निस्तेज रहता है, उनके जीवन में प्रसन्नता नहीं होती। इसके विपरीत गाँव में रहने वाला एक सादा किसान अथवा मजदूर अपने आत्म-सम्मान, पुरुषार्थ इत्यादि गुणों के कारण प्रसन्न रहता है। जीवन में प्राप्त दायित्वों का ठीक-ठीक पालन करना, प्रत्येक कार्य को समयानुसार करना, दूसरों से मधुर व्यवहार करना और यथासम्भव उनकी सेवा करना तथा सर्वोपरि नैतिक सिद्धान्तों पर अडिग रहने से व्यक्ति का मन स्वस्थ और प्रसन्न रहता है। ○○○

मेरे जीवन की कुछ स्मृतियाँ (५)

स्वामी अखण्डानन्द

(स्वामी अखण्डानन्द जी महाराज श्रीरामकृष्ण देव के शिष्य थे। परिव्राजक के रूप में उन्होंने हिमालय इत्यादि भारत के कई क्षेत्रों के अलावा तत्कालीन दुर्लंघ्य माने जाने वाले तिब्बत की यात्राएँ भी की थीं। उनके यात्रा-वृत्तान्त तथा अन्य संस्मरण बंगला पुस्तक 'स्मृति कथा' में प्रकाशित हुए हैं, जिनका अनुवाद विवेक ज्योति के पूर्व सम्पादक स्वामी विदेहात्मानन्द जी ने किया है। – सं.)

थियॉसाफिस्ट प्रसंग

ठाकुर के दक्षिणेश्वर-निवास के दिनों में ही कर्नल आल्काट ने कलकत्ते में थियॉसाफिकल सोसायटी की स्थापना की और दस-दस रुपये सदस्यता-शुल्क लेकर बहुत-से शिक्षित गणमान्य सज्जनों को उस समिति का सदस्य बनाया ।

एक दिन ठाकुर के कमरे में कुछ लोग बैठे हुए थे, जिनमें से कुछ लोग सम्भवत: उस सोसायटी के भी सदस्य थे । उन लोगों ने ठाकुर को बताया कि कर्नल आल्काट नामक एक गणमान्य अमेरिकी सज्जन अपना सब कुछ त्यागकर हिन्दू हो गये हैं । मैं टकटकी लगाये ठाकुर के मुख की ओर देख रहा था । सोच रहा था कि वे शायद बड़े खुश होंगे । परन्तु वे नाराज होकर बोले, "उसने अपना स्वयं का धर्म क्यों छोड़ा?" मैं तो सुनकर अवाक् रह गया ।

उन दिनों बागबाजार के राजवल्लभ पाड़ा में रहनेवाले बाबू महेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय तथा प्रियनाथ मुखोपाध्याय, दोनों भाई प्रतिदिन अपराह्न नें नवीन मयरा के यहाँ से एक हण्डी रसगुल्ले लेकर अपनी गाड़ी में ठाकुर के पास आया करते थे । दोनों भाइयों का मैदा, सुर्खी तथा तेल बनाने का कारखाना था । दोनों ही थियॉसाफिस्ट थे । तो भी महेन्द्र बाबू थोड़े पुरातनपन्थी थे ।

बाद के दिनों में, एक बार स्वामीजी बीमार पड़े और करीब दो-ढाई महीने बलराम बाबू के घर में रहे । उन दिनों महेन्द्र बाबू हर रोज उनके पास आकर लगभग चार घण्टे बिताया करते थे । उनके संग के फलस्वरूप महेन्द्र बाबू में इतना परिवर्तन आया कि वे भक्त बन गये और मठ में जितना भी आटा तथा कपड़े लगते, वह सब वे भेजवा दिया करते थे ।

कर्नल आल्काट कलकत्ते में आकर पाथुरियाघाट के प्रसन्न कुमार ठाकुर के उद्यान-भवन के तिमंजले पर रहते थे । महेन्द्र बाबू मुझे भी एक दिन वहाँ ले गये थे । मकान की तीसरी मंजिल बहुत-से युवा तथा प्रौढ़ लोगों से भरी हुई थी ।

कर्नल आल्काट का व्यक्तित्व बड़ा ही सुन्दर था । उनकी ठीक ऋषियों के समान लम्बी दाढ़ी थी । गले में विभिन्न आकारों की बहुत-सी ताबीजें लटक रही थीं । महात्माओं को मानते थे न, इसीलिये विभिन्न महात्माओं के बालों की ताबीजें बनवाकर गले में पहन रखी थीं । उनका एक मद्रासी रसोइया था, जो टूटी-फूटी अंग्रेजी बोलता था ।

वहीं पर बैठे-बैठे मैंने देखा कि 'अमृतबाजार पत्रिका' के सम्पादक बाबू शिशिर कुमार घोष वहाँ आये । वे सफेद कुर्ता पहने हुए थे और उस पर लटकती हुई तुलसी की माला विशेष दर्शनीय थी । उनके आते ही कर्नल आल्काट उन्हें साथ लेकर अपने कमरे के भीतर चले गये । थोड़ी देर उनके साथ बातचीत करने के बाद वे बाहर निकल आये । सब लोग वहीं बैठे थे, शिशिर बाबू वहाँ नहीं बैठे ।

इसके बाद हम लोगों को बातों-बातों में पता चला कि आल्काट साहब पक्के शाकाहारी हैं, परन्तु देखा कि उनके कमरे में अण्डे सजाकर रखे हुए थे । रसोइये से पूछने पर उसने बताया, "यह चलता है, साहब कहते हैं कि इसकी शाक-सब्जियों में गणना होती है ।"

इसके कुछ दिनों बाद महेन्द्र बाबू आदि जब ठाकुर के पास आते, तो देवेन्द्रनाथ वन्द्योपाध्याय (ये भी थियॉसाफिस्ट थे) भी उनके पास आया करते । इन्हीं देवेन्द्र बाबुओं का मकान ही बलराम बाबू के परिवार ने खरीदा था । उन दिनों 'सती या कलंकिनी' तथा 'आदर्श सती' आदि जो नाटक ग्रेट नेशनल थियेटर में मंचित होते थे, उनके लेखक ये देवेन बाबू ही थे ।

बाद में वे थियॉसाफिस्ट लोगों से चिढ़ गये थे, क्योंकि आल्काट साहब कहते कि केश बढ़ाना, नाखून बढ़ाना, निरामिष खाना आदि नियमों का पालन करने से महात्माओं के सूक्ष्म शरीर का दर्शन होता है । परन्तु बहुत दिनों तक वह सब करके भी जब देवेन बाबू को कोई दर्शन आदि नहीं हुआ, तो वे साहब के पास जाकर बताते । इस पर वे कहते, "और भी थोड़े दिनों बाद होंगे ।" देवेन बाबू ने

सोचा, "वे अमेरिकी हैं, ऐसे कौन-से पुण्यवान हैं ! जबकि हम लोग भारतवासी ब्राह्मण हैं !" आखिरकार उनका इन सब पर से विश्वास उठ गया । तभी से वे ठाकुर के पास आने-जाने लगे ।

भक्तों के साथ

देवेन बाबू की कन्या का विवाह गया के जमींदार दुर्गाशंकर बाबू के छोटे भाई गदाशंकर बाबू के साथ हुआ ।

इसी समय एक दिन महेन्द्र बाबू, प्रियबाबू, दुर्गाशंकर बाबू, गदाशंकर बाबू और मैं एक छोटी नौका में दक्षिणेश्वर जा रहे थे । नाव गंगाजी के बीच से होकर जा रही थी । खूब हवा चल रही थी और तरंगें भी उठ रही थीं । नाव बीच धार में थी । मल्लाह ने पतवार जोरों से पकड़ रखी थी । महेन्द्र बाबू खूब गोल-मटोल, कद के थोड़े छोटे थे, परन्तु देखने में बड़े सुन्दर थे । नाव को संकट में देखकर महेन्द्र बाबू को मजा आ रहा था । वे नाव में बैठे हुए उसे हिलाते हुए हँसने लगे । तब मैं काफी छोटा था । मुझे थोड़ा भय भी लगा । इसी प्रकार चलकर नाव दक्षिणेश्वर जा पहुँची ।

तब तक खाना-पीना आदि हो चुका था । ठाकुर उठकर अपने नीचे के तख्त पर बैठे हुए थे । उसी समय हम लोग उनके कमरे में प्रविष्ट हुए । महेन्द्र बाबू तथा प्रियबाबू ने जाकर ठाकुर से कहा, "महाराज, मैं काशी के भक्तों को ले आया हूँ ।" ठाकुर बोले, "हाँ, सो तो है । तुम 'शिवोऽहम्' वालों की टोली ले आये हो ।" उन्होंने बड़े आह्लादपूर्वक उन सभी को बैठाया ।

दुर्गाशंकर बाबू ने ठाकुर से पहला प्रश्न किया, "महाराज, जो पूर्ण ब्रह्म हैं, उनका ब्रह्माण्ड में कहीं भी अभाव नहीं है । उनका अवतार भला कैसे हो सकता है?"

ठाकुर बोले, "देखो, जो पूर्ण ब्रह्म हैं, वे साक्षी-स्वरूप हैं । वे सर्वदा समभाव से विराजमान हैं । उनकी शक्ति का ही अवतार होता है; कहीं दस कलाओं का, कहीं बारह कलाओं का और कहीं सोलह कलाओं का । जिसमें शक्ति की सोलहों कलाओं का अवतार होता है, उन्हीं की लोग पूर्ण ब्रह्म के रूप में पूजा करते हैं, जैसे श्रीकृष्ण की ।" श्रीराम को उन्होंने बारह कलाओं का अवतार बताया ।

देवेन बाबू (जो बलराम बाबू के घर के पिछले मालिक थे) बोले, "अच्छा महाराज, यह शरीर ही तो सभी अनिष्टों की जड़ है । क्या इसे नष्ट कर देने से ही सारे झंझट दूर नहीं हो जायेंगे?"

ठाकुर ने उत्तर दिया, "मिट्टी के कच्चे बर्तन टूट जाने पर उन्हें फिर गढ़ा जाता है, परन्तु पक्की हण्डी टूट जाने पर उसे फिर नहीं गढ़ा जाता । इसी प्रकार ज्ञान होने के पहले शरीर नष्ट करने पर, फिर उन्हीं कष्टों को लेकर आना होगा ।"

देवेन बाबू ने पूछा, "अच्छा महाराज, तो फिर इस शरीर की इतनी देखभाल क्यों की जाय?"

ठाकुर बोले, "जो लोग मूर्ति की ढलाई करते हैं, वे लोग मूर्ति के पूरी तरह से तैयार हो जाने तक उसके साँचे को सँभालकर रखते हैं । मूर्ति बन जाने के बाद, साँचे को रखो या मत रखो, कोई फरक नहीं पड़ता । वैसे ही इस शरीर के द्वारा आत्मज्ञान प्राप्त करना होगा, आत्म-साक्षात्कार करना होगा । उसके बाद शरीर रहे, या फिर चला जाय । जब तक वह नहीं हो जाता, तब तक इस शरीर की थोड़ी देखभाल करनी होगी ।"

देवेन बाबू चुप हो गये । इसके बाद ठाकुर ने साधक कमलाकान्त द्वारा रचित माँ-काली विषयक कई भजन सुनाये । दुर्गाशंकर बाबू रोने लगे । ठाकुर खूब सन्तुष्ट होकर बोले, "इन लोगों की घी की कड़ाही उबल रही है, इसीलिए ये सब बातें हो रही हैं । इसके बाद चुप हो जाओगे ।"

काफी देर बाद ठाकुर उठ गये । सबने मन्दिरों आदि का दर्शन किया । इसके बाद सभी लोग इधर-उधर चले गये ।

गदाशंकर बाबू थोड़े ब्राह्मसमाजी भावों से अनुप्राणित तथा केशव बाबू के भक्त थे । ठाकुर पूर्व की ओर के बरामदे में जाकर थोड़ी दूर उनके साथ बातें करने लगे । मैं वहीं खड़ा था ।

ठाकुर ने उनसे पूछा, "क्या तुम संध्या-वन्दन करते हो?" वे हाथ हिलाकर बोले, "मुझे वह सब 'अस्त्राय फट फुट' अच्छा नहीं लगता ।" ठाकुर ने कहा, "देखो, जबरन कोई भी चीज छोड़नी नहीं चाहिये । उसी प्रकार, जैसे कुम्हड़े, लौकी आदि के फूल तोड़ देने पर उसके फल सड़ जाते हैं, परन्तु फल के पक जाने पर फूल अपने आप झड़ जाते हैं ।"

ठाकुर ने पूछा, "तुम साकार ईश्वर से प्रेम करते हो या निराकार से?"

वे बोले, "निराकार से ।"

ठाकुर कहने लगे, "संध्या करते-करते उसका गायत्री में लय हो जाता है । वैसे ही गायत्री का जप करते-करते उसका ओंकार में लय हो जाता है । ओंकार का जप करते-

करते उसका तुरीय अवस्था में लय हो जाता है । तब संध्या अपने आप ही झड़ जाती है । निराकार को तुम सीधे कैसे पकड़ोगे? तीरन्दाज पहले केले के पेड़ पर निशाना लगाता है, उसके बाद पतले पेड़ पर, उसके बाद फल पर, उसके बाद पत्ते पर, उसके बाद उड़ती हुई चिड़िया पर । पहले साकार और उसके बाद निराकार ।''

इसके पहले कमरे में ठाकुर ने सबके सामने कहा था, ''देखो, अध्यात्म-रामायण का पाठ सुनते-सुनते मेरा मन बिल्कुल अयोध्या में सरयू के किनारे जा पहुँचा था । वहाँ मैंने नवदुर्वादल के समान श्याम वर्ण के राम को कमर पर कपड़ा पहने हुए, हाथ में धनुष तथा पीठ पर तरकस लिये हुए देखा । सीता और लक्ष्मण को भी देखा । उन्हीं को देखते हुए इतना आनन्द हुआ कि मैं बाह्य चेतना खो बैठा, मैं उसी रूप का उपभोग कर रहा था ।''

इस प्रकार की पवित्र बातों के बीच वह दिन इतने सुखपूर्वक बीता कि उसका जितना भी वर्णन करूँ, वह उतना ही मधुर लगेगा । इसके बाद हम सभी लोग एक ही नाव में वापस लौट आये । दुर्गाशंकर बाबू के साथ मेरा यही प्रथम परिचय था ।

कुछ पुरानी बातें

एक अन्य दिन ठाकुर के पास गया था । एक-एक कर कुछ भक्त आये । ठाकुर ने उस दिन अनेकों प्रकार की बातें कही थीं ।

बोले – काली-मन्दिर में बैठा हूँ, देखा कि एक व्यक्ति मन्दिर में आकर स्तव पाठ करने लगा । उसकी आवाज से मन्दिर काँप उठा । पीछे की ओर मुड़कर देखा – उसकी पागल के समान वेशभूषा थी, हाथ में एक हण्डी थी और शरीर पर फटे-चीथड़े लिपटे हुए थे । लोग खाने-पीने के बाद जहाँ पत्तल तथा जूठन फेकते हैं, वहीं बहुत-से कुत्ते जुटे हुए थे । मैंने देखा कि वह पागल वहीं जाकर एक कुत्ते का कान पकड़कर कह रहा है, ''तू भी खा, मैं भी खाऊँ ।'' बड़े आश्चर्य की बात, कान पकड़े जाने पर भी कुत्ता शान्त रहा, मानो उनका काफी दिनों से परिचय रहा हो ।

इसके बाद उसे अच्छा खाना दिया गया, परन्तु उसने नहीं खाया । बिना खाये ही धड़धड़ाते हुए फाटक से होकर चला जा रहा था । ठाकुर के आदेश पर हृदय ने उनके पीछे-पीछे थोड़ी दूर तक जाकर पूछा, ''सत्य क्या है?'' उत्तर में उसने गड्ढे का जल दिखाते हुए कहा, ''यह पानी और गंगाजल जिस दिन एक हो जायगा, उस दिन होगा (सत्य की ठीक धारणा होगी) ।''

इसके बाद ठाकुर बोले, ''देख, छोटे-छोटे बच्चे सब कुछ चैतन्यमय देखते हैं । उनकी दृष्टि में कोई भी वस्तु जड़ नहीं होती, सब चैतन्यमय है । क्यों कह रहा हूँ, जानता है? एक दिन मैंने देखा कि एक बालक एक पतिंगे को पकड़ने जा रहा है । पतिंगे के पास एक शाल का पत्ता पड़ा हुआ था । पत्ता एक ओर से दबा हुआ था । उसी समय क्या हुआ कि हवा से उसका दूसरा छोर फर-फर करते हुए उड़ने लगा । कहीं पत्ते की आवाज से पतिंगा उड़कर भाग न जाय, इसीलिये वह पत्ते को कह रहा था, 'चुप, चुप !' मैंने देखा और आनन्द में सोच रहा था – देखो, यह इस पत्ते को सजीव देख रहा है ।

''एक दूसरे दिन आकाश में बादल छाये हुए थे और खूब बिजली चमक रही थी । शिबू तब छोटा बालक था । वह उसी को देखकर एक बार बाहर जाता और फिर भीतर आकर कहता, 'चाचाजी, वह चकमकी घिस रहा है ।' मैंने कहा, 'कैसा चकमक रे?' उसने आकाश में चमकती बिजली को दिखाकर कहा, 'वह रहा ।' उन दिनों आग जलाने के लिये चकमक पत्थरों का उपयोग होता था ।''

एक दिन वे बोले, ''पहले यहाँ अनेक तांत्रिक साधक आकर अपने सारे क्रिया-कर्म किया करते थे । कोतरंग (कोन्नगर के पास स्थित) के अचलानन्द तीर्थस्वामी अपने उत्तर साधकों को साथ लेकर पंचवटी में साधना करने आते थे । मैं उन लोगों को मुद्रा – भूने हुए चावल, हरी मिर्चें आदि सब दे आता था । सभी 'कारण' (सुरापान) करते, अचलानन्द 'कारण' करके स्थिर आसन में गम्भीरतापूर्वक बैठकर खूब ध्यान-जप कर लेता था । अन्य सभी लोग उल्टी आदि कर देते और कुछ नहीं कर पाते ।'' **(क्रमशः)**

सफल होने के लिए प्रबल अध्यवसाय चाहिए, मन का अमित बल चाहिए। अध्यवसायी साधक कहता है, 'मैं चुल्लु से समुद्र पी जाऊँगा। मेरी इच्छा मात्र से पर्वत चूर-चूर हो जाएँगे।' इस प्रकार का तेज, इस प्रकार का दृढ़ संकल्प लेकर कठोर साधना करो और तुम ध्येय को अवश्य प्राप्त करोगे।

– स्वामी विवेकानन्द

ईश्वर ही हमारे जीवन के आधार हैं

स्वामी सत्यरूपानन्द
सचिव, रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर

ईश्वर की चर्चा करते समय मन को प्रसन्न रखना चाहिए। प्रसन्नचित्त से आध्यात्मिक चर्चा सुननी चाहिए। जब हम मंदिर में भगवान का दर्शन करने जाते हैं, तब मन शुद्ध पवित्र होना चाहिए। साधना करने के लिये मन को तैयार करना पड़ता है। साधना के लिये मन कैसे तैयार होता है? मन को शुद्ध करना पड़ता है। सत्संग से, ईश्वर-चर्चा करने-सुनने से मन शुद्ध होता है। भगवान पर विश्वास रखना पड़ता है। बिना विश्वास के प्रार्थना शब्द मात्र है।

संसार में जो कर्तव्य भगवान ने हमें दिया है, उसे पूरा करना है, उसे छोड़कर भागना नहीं है। हमें ऐसा सोचना चाहिये कि ईश्वर ने ही मुझे इस काम में लगाया है, यह कर्तव्य-कर्म उनकी ही पूजा है। ऐसा जानना ज्ञान है और न जानना अज्ञान है।

भगवत्-प्राप्ति के लिए भक्त में धैर्य, तितिक्षा, दुख, कष्ट सहने की आदत, ये गुण चाहिए। आध्यात्मिक जीवन में अनन्त धैर्य रखना पड़ता है। धैर्य के साथ अध्यवसाय यानि निरन्तर लगे रहना पड़ता है। हमारे जीवन में भीतर से परिवर्तन आना चाहिए। नाम-जप करने से सतत बाहर देखने की हमारी दृष्टि बदल जायेगी और मन अन्तर्मुखी होने लगेगा। मरने के बाद पुनर्जन्म होने के पहले हममें इस जन्म के संस्कार रहते हैं। शुभ-अशुभ कर्मो का प्रभाव हमारे जीवन में पड़ता है। बिना शरीर के हम कोई कर्म नहीं कर सकते।

मनुष्य-जन्म मिलने पर हम भगवान का नाम लें, सदाचरण करें। इससे मन शान्त रहेगा। यदि हम भगवान का नाम लेंगें, तो अन्त समय में शान्ति से मृत्यु भी होगी। इसी शरीर से शुभ कर्म करोगे तो अगला जन्म अच्छे संस्कारित परिवार में होगा। तब हमारी अधिक आध्यात्मिक प्रगति होगी। वहाँ सत्संग मिलेगा। साधना करने का सुअवसर मिलेगा। साधना से चित्तशुद्धि होती है, हमारे हृदय का विकास होता है। हमें स्वार्थी नहीं होना है। हमें चरित्रवान बनना है। जितना अपने हाथ में है, पहले उतना तो करो। किसी को कष्ट मत दो। दूसरों के कल्याण की कामना करो। किसी से भी बैर की भावना नहीं रखनी है। किसी से ईर्ष्या-द्वेष नहीं करना है। भगवान से शत्रु के लिये भी उसकी भलाई के लिए प्रार्थना करनी चाहिए। तब यह मन साधना के अनुकूल होता है। जीवन भर सत्कर्म और सदाचार का आचरण करने से, तब मृत्यु के समय मन में शुभ विचार और भगवान का नाम आता है। भगवान हमेशा चाहते हैं कि हम आगे बढ़ें और उनके चरणों में लीन हो जाएँ। संसार में अच्छा सब कुछ करें, लेकिन किसी के बारे में बुरा नहीं सोचें। शुभ वृत्ति का अर्थ यह है कि अशुभ चिन्तन नहीं करना चाहिये।

हम जीवन में क्या चाहते हैं, इसका विचार करके दृढ़ निश्चय कर लें। वास्तविकता तो यह है कि इस संसार में परमात्मा के सिवाय शुद्ध कुछ भी नहीं है। ईश्वर ही हमारे जीवन के आधार हैं।

याद रखना कि इसी जीवन में सब कुछ करना है। इस मनुष्य-जन्म में ही भगवान ने मनुष्य को शुभ-अशुभ सोचने के लिये विवेक और बुद्धि दिया है। सद्‌बुद्धि का उपयोग करते हुये सत्कर्म करोगे, तो इस जन्म में तुम्हारा भला तो होगा ही, अगले जन्म में भी तुम्हें अच्छे गुरु मिलेंगे, सत्संग मिलेगा, मन में शुभ विचार आयेंगे। अशुभ विचारों को कर्म में परिणत नहीं करना चाहिए। उन्हें बुद्धि से विश्लेषण कर त्याग देना चाहिये। अपने मन को ऐसे प्रशिक्षित करने का सतत प्रयत्न करना चाहिए। इष्टमन्त्र का जप करें, भगवान से सबके कल्याण के लिए प्रार्थना करें। भगवद्-भक्ति और प्रेम के लिये प्रार्थना करें। अपनी साधना को गोपनीय रखें। साधना के पथ में जो बाधायें आयेंगी, वे भगवान की कृपा से चली जायेंगी।

जब से हम पैदा हुए, तबसे हमारा मन कभी स्थिर नहीं रहता है। वह ऊपर-नीचे, आगे-पीछे जाता ही रहता है। हम मन में सब चीजों की इच्छा करते हैं और इसकी पूर्ति के लिये सारा जीवन व्यस्त रहते हैं। मन कभी ईश्वर की ओर जाता ही नहीं। इसलिए मन को लेकर ही सब समस्या है। अत: हमें मन-बुद्धि को शुद्ध कर इसे ईश्वर में लगाना चाहिये। ○○○

सारगाछी की स्मृतियाँ (६७)

स्वामी सुहितानन्द

स्वामी प्रेमेशानन्द

(स्वामी सुहितानन्द जी महाराज रामकृष्ण मठ-मिशन के उपाध्यक्ष हैं। महाराजजी जगजननी श्रीमाँ सारदा देवी के शिष्य स्वामी प्रेमेशानन्द जी महाराज के अनन्य निष्ठावान सेवक थे। उन्होंने समय-समय पर महाराजजी के साथ हुए वार्तालापों के कुछ अंश अपनी डायरी में गोपनीय ढंग से लिखकर रखा था, जो साधकों के लिये अत्यन्त उपयोगी है। 'उद्बोधन' बँगला मासिक पत्रिका में यह मई-२०१२ से अनवरत प्रकाशित हो रहा है। पूज्य उपाध्यक्ष महाराज की अनुमति से इसका अनुवाद रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के स्वामी प्रपत्त्यानन्द और वाराणसी के रामकुमार गौड़ ने किया है, जिसे 'विवेक-ज्योति' में क्रमश: प्रकाशित किया जा रहा है। – सं.)

२७-२-१९६१

प्रश्न – पुराणों में साधु लोग विशेष रूप से जटा क्यों रखते थे?

महाराज – पहले ऐसा था। संसार में किसी भी चीज के प्रति आकर्षण का अनुभव न करके ऋषि-मुनि वन में एक किनारे मिट्टी की कुटिया बनाकर रहते थे तथा मान-अपमान को समान समझकर भिक्षाटन करके कुछ खा लेते और साधना करते थे, इसके परिणामस्वरूप उस समय जटा बहुत प्रचलित हो गई थी। एक स्थान पर रहने के कारण बड़ी-बड़ी जटाएँ हो जाती थीं।

इस देह-मन-बुद्धि पर विशेषकर बुद्धि पर रंचमात्र भी विश्वास नहीं है, क्योंकि पता नहीं यह कब किस वस्तु को स्वीकार कर लेगी। अवचेतन मन का खेल कब किस प्रकार प्रकट होगा, इसका पता नहीं। इसीलिए हमेशा 'ज्ञान-नेत्रों को प्रहरी रखो, जिससे वह सावधान रहे। हमलोगों में सबमें ही दोष है, कोई परमहंस तो नहीं है। इसीलिए वृद्ध साधुओं से सब जान लेना चाहिए, क्योंकि वे संसार के कितने धक्के खा चुके हैं। उनसे यह जान लेना चाहिए कि कहाँ-कहाँ छिद्र (दोष) है। कहा गया है न – 'बिना देखे-सुने ठीक से सीखना नहीं होता।' इससे अवश्य ही कष्ट मिलता है।

२८-२-१९६१

महाराज – १९०९ ई. में उद्बोधन में श्रीमाँ का दर्शन करने गया था। सत्यकाम महाराज ने सिलहट में मेरा घर है, यह सुनकर कहा, "मैं एक बार राहत-कार्य करने सिलहट गया था।"

जिस कमरे में शरत् महाराज रहते थे, मैं उसी में रहा। शरत् महाराज के पास ही बैकुंठ सान्याल थे, वे मेरा नाम-धाम पूछने लगे। लगता है, मेरी बातों से उन्हें कुछ आभास मिला हो। उन्होंने पूछा, "क्या तुम असमिया हो?"

शरत् महाराज बोले, "वह असमिया क्यों होगा?"

तत्पश्चात् श्रीमाँ का दर्शन किया – मुख तो देखा नहीं, मुख घूँघट से ढँका था। चरणों को हाथों से स्पर्श किया था या नहीं, याद नहीं है। बाद में प्रसाद भी पाया था। जयरामबाटी में माँ के मुख पर सामान्यतया घूँघट नहीं होता था।

रजनी नामक वारांगना को ठाकुर 'माँ' कहकर पुकारते थे। वह भी ठाकुर को चना, कलाई दाल खिलाने आती थी। एक दिन वह उद्बोधन में जाकर बाहर से झाँककर देखने लगी, भीतर घुसने का साहस नहीं कर पा रही थी। उसे देखकर माँ हाथ पकड़कर भीतर ले गईं और कहने लगीं, "ठाकुर तुम्हें माँ कहते थे।"

प्रश्न – क्या ब्रह्मानुभूति से व्यक्ति निष्प्राण हो जाता है?

महाराज – जिस व्यक्ति को ब्रह्मानुभूति होती है, वह कभी बता नहीं सकता कि ब्रह्म कैसा है। दूसरे लोग उससे प्रश्न करके जान सकते हैं, अर्थात् ब्रह्म क्या नहीं है, यही बात ब्रह्मवेत्ता बता सकते हैं। एक व्यक्ति को ब्रह्मानुभूति हुई। उनसे एक व्यक्ति पूछते हैं, "क्या तुम शून्य हो गए हो?" उस ब्रह्मज्ञ ने कहा – नहीं। फिर पूछा, तब तुम क्या हो? ब्रह्मज्ञ ने उसका कोई उत्तर नहीं दिया। उससे समझ लिया गया कि सत् है। काष्ठ, पत्थर भी तो है, क्या सदा लकड़ी-पत्थर की तरह रहना है, क्या उसमें होश रहता है? ब्रह्मज्ञ ने कहा – नहीं, लकड़ी-पत्थर की तरह नहीं है। उससे समझ लिया गया कि होश रहता है – अर्थात् चित्। रात में नींद नहीं आने पर भी तो होश रहता है। वह तो बड़े कष्ट की बात है। ब्रह्मज्ञ ने कहा – नहीं, वह परम आनन्द असीम है, उस आनन्द को पाकर दूसरा कुछ भी अच्छा नहीं लगता। उसका ही नाम है सच्चिदानन्द।

३-३-१९६१

प्रश्न – अन्य अवतारों में क्या ठाकुर की तरह आध्यात्मिकता प्रकट हुई थी?

महाराज – रामकृष्ण नहीं हुए। जो राम हुए थे, जो

कृष्ण हुए थे, वे ही रामकृष्ण हुए। कोई-कोई कहते हैं कि रामचन्द्र पूर्ण अवतार नहीं थे। किन्तु हमलोग राम, कृष्ण, चैतन्य और रामकृष्ण को पूर्णब्रह्म के रूप में ही जानते हैं। ये सभी लोग निर्विकल्प समाधि में लीन होते थे। किन्तु इसका उल्लेख नहीं है। चैतन्यदेव को भी बारम्बार समाधि होती थी। किन्तु वैष्णव धर्म में सगुण ब्रह्म को लेकर उन्मत्तता थी। युग-प्रयोजन के अनुसार जब जैसी आवश्यकता होती है, वैसा ही किया जाता है। सुना है, चैतन्यदेव ने अद्वैताचार्य पर अद्वैत-मत का प्रचार करने के लिये प्रहार तक भी किया था। ठाकुर ने भी तो स्वामीजी को निर्विकल्प (अवस्था) से नीचे उतारकर रखा था। वे भक्तों से ज्ञान की आलोचना करते थे। चैतन्यदेव का ज्ञान भीतर था। युग के प्रयोजन के अनुसार उन्होंने भक्ति की बाढ़ ला दी थी। यदि अद्वैताचार्य में भक्ति-भावना नहीं रहती तो, राढ़-देश (बंगाल) को मतवाला कौन बनाता? नित्यानन्द और अद्वैताचार्य ने क्या किया था, उसकी जानकारी आज भी उपलब्ध है।

प्रश्न – कर्म करने से रजोगुण बढ़ता है, फिर कर्म नहीं करने से तमोगुण बढ़ता है। हमारे लिए क्या करना उचित है?

महाराज – मनुष्य में रजोगुण होने से ही कर्म करने की इच्छा होती है – आग्रही होने की इच्छा होती है। इस वृत्ति को रोकने के लिये वैराग्य चाहिए। मुमुक्षु नहीं बनने से वैराग्य नहीं होगा, फिर परोपकार करते-करते वैराग्य आता है। किन्तु केवल परोपकार करते रहने से ही वैराग्य नहीं आता, वैराग्य के लिये परोपकार नहीं करने से वैराग्य नहीं होता है। परोपकार का सिद्धान्त ही है – दूसरों के सुख-दुख को अपना अनुभव करके अपना विस्तार करना और मनुष्य की सेवा का अर्थ है, मनुष्य के भीतर जो चैतन्य सत्ता रहती है – उसकी सेवा करना। किन्तु यह सिद्धान्त नहीं जानने से देखो क्या होता है – विद्यासागर ने तो इतना परोपकार किया, किन्तु अन्त में खीझकर लोगों से ऊब गए।

तीन स्तर हैं, प्रथम – अज्ञान अवस्था, तब मैं कर्ता हूँ। दूसरा – ज्ञान स्तर, तब समझ में आता है कि ईश्वर की इच्छा से हो रहा है। तीसरा – ज्ञानातीत अवस्था, तब समझ में आता है कि वे कुछ भी नहीं करते, उदासीन हैं –

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते।।

(गीता ५/१४)

यह श्लोक बहुत महत्त्वपूर्ण है। तुम्हारे जीवन में जो कुछ घट रहा है, वह सब तुम्हारे स्वभाव के कारण है, इसमें ईश्वर की कृपा नहीं है। विक्टोरिया के शासन-काल में कोई दण्ड पाता है, तो उसके लिए विक्टोरिया को जिम्मेदार कहा जाता है, किन्तु वे जिम्मेदार भी नहीं हैं। उसी तरह भगवान ने एक नियम या कानून बनाकर रख दिया है। उसी नियम के अनुसार चलकर मनुष्य सुख-दुख, पाप-पुण्य का भोग करता है, यह तत्त्व लोगों को ज्ञात नहीं है। कुरबान शेख कहता है, अल्लाह की इच्छा से मेरे सात पुत्र हैं। अल्लाह क्या हैं, वह उनका तिलमात्र भी नहीं जानता है। जो व्यक्ति तत्त्व को नहीं जानता, उसे हम नास्तिक कहते हैं, जो तत्त्व को जानता है, उसे आस्तिक कहते हैं, भले ही वह हिन्दू हो, मुसलमान हो या ईसाई हो। ठाकुर ने तो कहा है कि ईश्वर की इच्छा के बिना पेड़ का पत्ता तक नहीं हिलता है। वह किस अवस्था की बात है? तब वह व्यक्ति देखता है कि वे परमात्मा ही ये सब हुए हैं, वे लोग जगत को ब्रह्ममय देखते हैं। षष्ठी पूजा में श्रीमाँ ने कहा था, "बाबा, यह तो मेरी ही पूजा है।" **'सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रति गच्छति।'** यही धर्म है।

उपासना सभी धर्मों में है – हिन्दू लोग पूजा करते हैं, मुसलमान लोग बचपन से नमाज पढ़ते हैं, ईसाई लोग बचपन से 'ईशु-ईशु' कहकर प्रार्थना करते हैं। प्रार्थना का विषय – धन, मान, अच्छा भोजन, ये सब बहुत निम्न स्तर है। फिर भी यह प्रार्थना है। इसी प्रकार क्रमिक विकास होता है। इसके अतिरिक्त एक दूसरा स्तर है – ज्ञान विचार। विवेक जाग्रत होने पर वस्तु-अवस्तु के विचार द्वारा मन नित्यशुद्ध वस्तु की ओर दौड़ पड़ेगा। यदि खराब संस्कार प्रबल रहें, तो उपासना करते-करते मन शुद्ध होने पर ही ईश्वर के प्रति आकर्षण का अनुभव होगा। **(क्रमशः)**

स्वयं कुछ न करना और यदि दूसरा कोई कुछ करना चाहे, तो उसकी हँसी उड़ाना – यही हमारी जाति का एक महान दोष है और इसी से हम लोगों का सर्वनाश हुआ है। हृदयहीनता और उद्यम का अभाव ही सब दुखों का मूल है, अतः इन दोनों को त्याग दो।

– स्वामी विवेकानन्द

रामकृष्ण विवेकानन्द भावधारा और भक्तों की भूमिका

डॉ. ओमप्रकाश वर्मा

विवेकानन्द चेयर प्रोफेसर, रविशंकर शुक्ल विश्वविद्यालय, रायपुर और सचिव, विवेकानन्द विद्यापीठ, कोटा, रायपुर

मेरा विषय है – 'रामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा और भक्तों की भूमिका'। विषय के दो स्पष्ट भाग हैं – पहला 'रामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा' और दूसरा 'भक्तों की भूमिका'। मैं इन्हीं दोनों भागों पर अपने विचार रखूँगा। जब हम रामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा की बात करते हैं, तो मन में सहज रूप से प्रश्न उठ सकता है कि इस भावधारा का अर्थ क्या है। जैसे हम जलधारा कहें, तो उसका एक उद्‌गम तथा एक गन्तव्य होता है और वह जलधारा मार्ग में किसी क्षेत्र-विशेष को प्लावित करते हुये बहती है। यही बात भावधारा के सम्बन्ध में भी सत्य है। रामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा भी एक ऐसे ही चिन्तन का प्रवाह है, जिसका एक उद्‌गम है, जिसका एक विशिष्ट लक्ष्य है तथा यह बहुत से लोगों के जीवन को प्रभावित करती हुई प्रवाहित हो रही है।

रामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा का उद्‌गम, केन्द्र हैं – श्रीरामकृष्ण देव। अपने ५० वर्षों के अल्प जीवन में उन्होंने अनेक उच्चतम आध्यात्मिक सिद्धान्तों, आदर्शों और मूल्यों की अनुभूति की थी। उनकी इन्हीं अनुभूतियों को हम 'भाव' के रूप में व्यक्त कर सकते हैं। भगवान श्रीरामकृष्ण देव का जीवन अत्यन्त विलक्षण था। वे आध्यात्मिकता के मूर्तिमान विग्रह थे। उनके जीवन में काम लेश मात्र भी नहीं था। उन्हें इससे चरम विरक्ति हो गयी थी। उन्हें अपनी पत्नी में जगन्माता का रूप दिखता था। कांचन की विरक्ति ऐसी थी कि रुपयों-पैसों की बात तो दूर रही, वे किसी धातु का स्पर्श भी नहीं कर सकते थे। यदि भूल से कभी स्पर्श हो भी जाता, तो वेदना से ऐसे चिल्ला उठते, मानों उन्हें सहस्त्रों बिच्छुओं ने एक साथ डंक मार दिया हो। अपने मन से अपने ब्राह्मणत्व के अहंकार को मिटाने के लिए रात्रि के गहन अंधकार में मेहतर के शौचालय में जाकर अपने काले बालों को झाड़ू बनाकर वे उस शौचालय के मल लगे फर्श को रगड़-रगड़ कर साफ करते थे और रो-रोकर जगन्माता से प्रार्थना करते थे कि माँ! जैसे मैं इस मलिन फर्श को रगड़-रगड़ कर साफ कर रहा हूँ, वैसे ही तू मेरे हृदय के मल को भी साफ कर दे।

श्रीरामकृष्ण देव ने ईश्वर के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु की कामना नहीं की, किसी अन्य वस्तु का चिन्तन नहीं किया। उनके मन, प्राण, वाणी और क्रियाकलापों में ईश्वर के अतिरिक्त कुछ भी नहीं था। ईश्वर को पाना, ईश्वर को देखना, उनसे वार्तालाप करना, उनके साथ एकाकार हो जाना, यही उनके जीवन की सबसे बड़ी लालसा थी। ईश्वर के साथ उनका तादात्म्य-भाव इतना घनीभूत हो गया था कि उन्होंने कभी यह अनुभव ही नहीं किया कि ईश्वर से पृथक् उनकी कोई अपनी सत्ता है। उनकी सत्यनिष्ठा ऐसी दृढ़ थी कि भूल से भी सत्यपथ से उनका विचलन सम्भव नहीं था। सत्य, अस्तेय, त्याग, वैराग्य, ईश्वर-दर्शन हेतु व्याकुलता, सर्वधर्म-समन्वय, नारी के प्रति सम्मान, सर्वत्र भगवन्मय दृष्टि, शिवभाव से जीवसेवा आदि भाव एक साथ उनके जीवन में प्रकट हुए थे। इन सभी भावों का समुच्चय ही मानो 'रामकृष्ण-भाव' के रूप में प्रकट हुआ, पर श्रीरामकृष्ण देव को यह अवस्था सहजता से प्राप्त नहीं हुई। कठोर साधना और व्याकुलता की दीर्घकालिक अवधि से उनको गुजरना पड़ा। ईश्वर-दर्शन के लिए इतनी व्याकुलता उनके जीवन में हुई कि वे अपने प्राणों का उत्सर्ग कर देने के लिये भी उद्यत हो गये। साधना के प्रारम्भिक दिनों में श्रीरामकृष्ण देव दक्षिणेश्वर स्थित काली मन्दिर के पुजारी थे। उनके प्राण जगन्माता के दर्शन के लिए आकुल-व्याकुल हो गये थे। माँ! माँ! का करुण क्रन्दन उनके प्राणों को चीर-चीर कर उच्चारित हो रहा था। दक्षिणेश्वर की दीवालें उस छोटे पुजारी के व्याकुल दिव्यावेश से करुणार्द्र हो गयी थीं। माँ के दर्शन न कर पाने के कारण वे एक अबोध शिशु की भाँति फूट-फूट कर रोते और कहते, "माँ! तू कहाँ हैं? मुझे दर्शन दे! तूने

रामप्रसाद को दर्शन दिये हैं, कमलाकान्त को दर्शन दिये हैं, मुझसे ऐसी कौन सी त्रुटि हो गयी है, जो तू मुझे दर्शन नहीं दे रही है। माँ! मैं धन-सम्पदा, सुख-सम्पत्ति कुछ भी नहीं चाहता, केवल तेरे दर्शन चाहता हूँ।'' सन्ध्या के समय जब मन्दिर में घंटा-ध्वनि होती, तो श्रीरामकृष्ण देव के प्राण कंठगत हो जाते और अत्यन्त व्याकुलता से रोते हुए कह उठते, ''माँ! आज का दिन भी व्यर्थ चला गया, पर तेरे दर्शन नहीं हुए।'' एक दिन उनकी व्याकुलता इतनी बढ़ी कि वे माँ के मंदिर में टंगे खड्ग से अपने जीवन का अन्त कर देने के लिये उद्यत हो गये, तब ऐसी व्याकुलता के क्षणों में उन्हें जगन्माता के दर्शन हुए। तो ऐसे थे श्रीरामकृष्ण देव!

व्याकुलता के बल पर ही उन्होंने जगन्माता के दर्शन किये थे। संसार के लोगों को उन्होंने उपदेश दिया कि जीवन का एक मात्र प्रयोजन है – भगवान-लाभ। वे तो कहा करते थे – जब किसी प्रियजन की मृत्यु हो जाती है, तो लोग कितना आँसू बहाते हैं, कितना दुखी होते हैं। कितने दिनों तक उनके आँसू नहीं सूखते। पर कौन है, जो यह सोचकर क्षणभर के लिये भी आँसू बहाता है कि भगवान तुमने मुझको दर्शन नहीं दिये। अरे, मैं दावे के साथ कहता हूँ कि तीन दिन, तीन रात यदि कोई ईश्वर के लिए आँसू बहायेगा, तो उसको ईश्वर के दर्शन हो जायेंगे। देखिए! व्यक्ति का जीवन कितने दिनों का होता है? बीस-पच्चीस हजार दिन तो होते ही हैं। उसमें श्रीरामकृष्ण देव कहते है कि केवल तीन-दिन, तीन-रात ईश्वर के लिए रोना है। वह भी हमसे नहीं होता, तो कैसे ईश्वर के दर्शन करेंगे? श्रीरामकृष्ण देव के भक्तों का यह दायित्व है कि वे इस बात को हृदय की सम्पूर्ण गहराई से अनुभव करें कि उनके जीवन का उद्देश्य ईश्वर की अनुभूति करना है। चाहे वे स्त्रीं हों या पुरुष, चाहे वे जीवन के जिस भी क्षेत्र में काम कर रहे हों – उद्योग में, व्यवसाय में, खेत में, खलिहान में, नौकरी कर रहे हों या घर के काम में व्यस्त रहते हों, सबके जीवन का प्रमुख प्रयोजन है – इस बात की अनुभूति करना कि ईश्वर-प्राप्ति ही उनके जीवन का मूल प्रयोजन है। उस ईश्वर की अनुभूति के लिए शास्त्रों और महापुरुषों द्वारा बताये हुए मार्गों को जीवन में अपनाना और जीवन के इस महान सत्य का, ईश्वर की अनुभूति के महत् आदर्श का परिवार में, परिचितों में तथा समाज में यथासम्भव प्रचार-प्रसार करना। यदि हम ऐसा कर सकें, तो रामकृष्ण-भावधारा के प्रचार-प्रसार में यह हमारा महत्त्वपूर्ण योगदान होगा।

भगवान श्रीरामकृष्ण देव द्वारा विकसित एवं प्रतिपादित भावों को देश-काल एवं व्यक्ति की आवश्यकता के अनुसार प्रस्तुत करने में एवं उन्हें व्यावहारिक रूप प्रदान करने में स्वामी विवेकानन्द ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया। इस रामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा के विकास में माँ सारदा की भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। सही बात तो यह है कि भगवान श्रीरामकृष्ण देव की महासमाधि के बाद रामकृष्ण संघ के गठन की एक स्पष्ट अवधारणा माँ सारदा के मन में जब आयी, उस समय श्रीरामकृष्ण देव के शिष्यों में कोई इस सम्बन्ध में सोच भी नहीं पाया था। भले ही रामकृष्ण संघ की स्थापना स्वामी विवेकानन्द ने की, पर उसकी स्थापना के मूल में श्रीमाँ की ही प्रबल इच्छाशक्ति विद्यमान थी। सन् १८९० के मार्च के अन्तिम सप्ताह में श्रीमाँ बुद्ध-गया गयीं। वहाँ वे बौद्ध मठों के वैभव और व्यवस्था को देखकर अत्यधिक प्रभावित हुईं। इस अवसर पर उन्हें अपने त्यागी पुत्रों का स्मरण हो आया, जो अन्न-वस्त्र और स्थायी आवास के अभाव का कष्ट सहते हुए इधर-उधर भटकते रहते थे। अपनी सन्तानों के लिए भी ऐसी सुव्यवस्था करने के लिए उन्होंने श्रीठाकुर से अत्यन्त व्याकुल हृदय से प्रार्थना की। बाद में उन्होंने कहा था, 'अहा! इसके लिये ठाकुर के सामने कितना रोई हूँ, कितनी प्रार्थना की हूँ, तभी आज उनकी कृपा से ये मठ-वठ जो कुछ है। ठाकुर के देह-त्याग के बाद लड़के संसार त्यागकर कुछ दिन एक जगह ठहरे। इसके बाद सभी स्वाधीन रूप से इधर-उधर घूमते रहे। उस समय मुझे बहुत दुख हुआ। ठाकुर के पास प्रार्थना करने लगी, ठाकुर तुम आये, इन कुछ लोगों के साथ लीला की और आनन्द करके चले गये और बस, सब समाप्त हो गया? तो इतना कष्ट करके आने की भला आवश्यकता ही क्या थी? मैंने काशी-वृंदावन में देखा है, अनेक साधु भीख माँगते और इधर-उधर भटकते फिरते हैं। ऐसे साधुओं की तो कमी नहीं है। तुम्हारे नाम पर अपना सब कुछ त्यागकर मेरे बच्चे थोड़े से अन्न-वस्त्र के लिए भटकते फिरेंगे, यह मुझसे नहीं देखा जाएगा। मेरी तुमसे यही प्रार्थना है कि तुम्हारे नाम पर जो निकलेंगे, उन्हें साधारण खाने-पीने का अभाव न हो। वे सभी तुम्हें और तुम्हारे उपदेशों और भावों को लेकर एक साथ रहेंगे और सांसारिक दुखों से जर्जरित मनुष्य उनके

पास आकर तुम्हारी बातें सुनकर शान्ति पायेंगे, इसीलिए तो तुम्हारा आना हुआ है। इन्हें इधर-उधर भटकते देख मेरा हृदय व्याकुल हो उठता है। इसके बाद नरेन ने धीरे-धीरे यह सब किया।''

एक अन्य घटना है, जो रामकृष्ण मठ-मिशन की स्थापना में श्रीमाँ की महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रमाणित करती है। स्वामी विवेकानन्द ने मठ-मिशन हेतु उस समय बेलूड़ मठ की जमीन को खरीद लिया था। इसी बीच कलकत्ते में भयंकर प्लेग फैला। स्वामीजी ने व्यापक स्तर पर राहत-कार्य संचालित किया था, पर उन्हें लगा कि धन के अभाव में राहत कार्य बन्द हो जायेगा। ऐसी स्थिति में स्वामीजी ने बेलूड़ मठ की जमीन को बेच देने की सोची। स्वामीजी ने सोचा, ''हम तो संन्यासी हैं, 'करतलभिक्षा तरुतलवास:' हमारा आदर्श है। अत: हमें जमीन की क्या आवश्यकता है? इसे बेचकर प्राप्त राशि से राहत कार्य चलाया जाए।'' स्वामीजी का ऐसा निश्चय जानकर स्वामी शिवानन्दजी ने उनसे कहा कि उन्हें ऐसा करने के पूर्व श्रीमाँ से भी सलाह लेना उचित है। स्वामीजी सहमत हुए और स्वामी ब्रह्मानन्दजी, स्वामी शिवानन्दजी और स्वामी सारदानन्दजी के साथ श्रीमाँ के पास गये। श्रीमाँ को प्रणाम करने के बाद उन्होंने बेलूड़ मठ की जमीन को बेचकर प्राप्त धन से 'प्लेग-राहत-कार्य' चलाने की अपनी योजना उन्हें बताई। सुनते ही माँ ने कहा, ''नहीं बेटा! तुम अब बेलूड़ मठ की सम्पत्ति को नहीं बेच सकते। अब वह तुम्हारी सम्पत्ति नहीं रही, वह अब श्रीठाकुर की हो गयी है। तुम सब लोग मजबूत मन वाले हो, तुम लोग पेड़ के नीचे रह सकते हो, पर भविष्य में आनेवाली मेरी सभी सन्तानें पेड़ के नीचे नहीं रह पायेंगी। यह मठ उनकी भलाई के लिए है।'' स्वामीजी ने श्रीमाँ के आदेश को सहर्ष शिरोधार्य किया। इस प्रकार श्रीमाँ के निर्देश से ही बेलूड़ मठ की जमीन बची और आज रामकृष्ण मठ-मिशन के द्वारा जो विविध और व्यापक सेवाकार्य चलाये जा रहे हैं, वे श्रीमाँ की ही दूरदृष्टि का परिणाम हैं। ऐसे अन्य बहुत से अवसर आए, जब श्रीमाँ ने रामकृष्ण संघ के हित में दूर दृष्टिपूर्ण निर्णय लिए। भक्तों के प्रति श्रीमाँ की बहुत उदारतापूर्ण दृष्टि रही। उन्होंने संसार के लोगों के दुख-कष्टों का स्वयं अपने जीवन में अनुभव किया और उन्हें दूर करने के लिए स्वयं उनकी आपदाओं-विपदाओं को स्वीकार किया और इस प्रकार उन्हें जीवन के यथार्थ सुख से परिचित कराया। उन्होंने उनके जीवन को ईश्वर की ओर प्रेरित किया। उनके दैवी प्रेम के वितरण से भक्तों का जीवन परम शान्तिदायक और धन्यता से परिपूर्ण हो गया।

सर्वधर्म-समन्वय अथवा सर्वधर्म-सद्भाव रामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा का एक महत्त्वपूर्ण आदर्श है। एक दिन श्रीरामकृष्ण देव ने माँ काली से कहा था, ''माँ! मैं पढ़ना-लिखना नहीं जानता। तू ही कृपा करके सभी धर्मों का, सभी शास्त्रों का सार मुझको बतला दे।'' तब माँ अपने लाड़ले बेटे की इच्छा पूर्ण करती हैं। जगदम्बा की कृपा से ही विभिन्न भावों के आचार्य एवं विभिन्न धर्मों के धर्मगुरु स्वयं दक्षिणेश्वर में श्रीरामकृष्ण देव के पास आने लगे और श्रीरामकृष्ण को विभिन्न भावों और धर्मों की साधना में दीक्षित करने लगे। वैष्णव, शैव, शाक्त, तांत्रिक, अद्वैतवादी, ईसाई और मुसलमान बनकर श्रीरामकृष्णदेव ने बता दिया कि सभी धर्मों का अन्तिम लक्ष्य एक ही है। उन्होंने घोषणा की – 'जितने मत उतने पथ।' हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियों को भी ऐसी ही अनुभति हुई थी। पुष्पदन्त कवि शिव-महिम्नस्तोत्र में गा उठते हैं –

रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषाम्।
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।।

अर्थात् 'जैसे भिन्न-भिन्न नदियाँ भिन्न-भिन्न स्रोतों से निकलकर समुद्र में मिल जाती हैं, उसी प्रकार हे प्रभो! भिन्न-भिन्न रुचि के अनुसार विभिन्न टेढ़े-मेढ़े अथवा सीधे मार्गों से जानेवाले लोग अन्त में तुझमें ही आकर मिल जाते हैं।' श्रीरामकृष्णदेव ने इस दिव्य भाव को अपने जीवन में जीकर साकार किया। वे सर्वधर्मस्वरूप हो गए। श्रीरामकृष्ण देव की इसी दिव्य अनुभूति का प्रचार स्वामी विवेकानन्द ने सारे विश्व में किया। कितनी सुन्दर बात स्वामी विवेकानन्द कहते हैं – ''मैं आज तक के सभी धर्मों को स्वीकार करता हूँ। मैं उनमें से प्रत्येक के साथ ईश्वर की उपासना करता हूँ, वे चाहे किसी भी रूप में उपासना करते हों। मैं मुसलमानों के मस्जिद में जाऊँगा, मैं बौद्ध मन्दिरों में जाकर भगवान बुद्ध और उनकी शिक्षा की शरण लूँगा। मैं जंगल में जाकर हिन्दुओं के साथ ध्यान करूँगा, जो हृदय में ज्योतिस्वरूप परमात्मा को प्रत्यक्ष करने में लगे हुए हैं।''

शिकागो में आयोजित धर्म-महासभा के अंतिम दिन २७ दिसम्बर, १८९३ को स्वामीजी ने विश्व को एक अनमोल सीख दी, भारत का अपना सन्देश दिया। उन्होंने कहा, ''ईसाई को हिन्दू अथवा बौद्ध नहीं हो जाना चाहिए और न हिन्दू अथवा बौद्ध को ईसाई। किन्तु प्रत्येक को दूसरे की भावना को आत्मसात् करते हुए अपने व्यक्तित्व को सुरक्षित

रखना चाहिए तथा विकास के नियमों के अनुसार उन्नति करनी चाहिए। इस धर्म-महासभा ने विश्व को कुछ बतलाया है, तो केवल इतना कि इसने विश्व के सम्मुख यह सिद्ध कर दिया है कि शुद्धता, पवित्रता और दयालुता किसी एक सम्प्रदाय की सम्पत्ति नहीं हैं। प्रत्येक धर्म ने श्रेष्ठतम पुरुषों और स्त्रियों को जन्म दिया है। इस प्रत्यक्ष प्रमाण के बावजूद यदि कोई व्यक्ति केवल अपने ही धर्म की रक्षा और दूसरे के धर्मों के नाश का स्वप्न देखे, तो मैं हृदय से उस पर तरस खाता हूँ और उसे स्पष्ट बता देता हूँ कि शीघ्र ही उसके विरोध के बावजूद प्रत्येक धर्म के ध्वज पर यह लिखा होगा – सहायता करो, लड़ो मत; परभावग्रहण न कि परभाव विनाश; समन्वय और शान्ति न कि मतभेद और कलह।''

स्वामी विवेकानन्द का उपरोक्त संदेश रामकृष्ण-भावधारा का एक प्रमुख आधार है। अत: श्रीरामकृष्ण के भक्तों को धर्म-परिवर्तन में विश्वास नहीं करना चाहिए। उन्हें दूसरों के धर्मों का पूरा सम्मान करते हुए अपने धर्म का दृढ़ता से पालन करना चाहिए। उन्हें चरित्र की महानता और हृदय की उदारता में विश्वास करना चाहिए। हम चाहते हैं कि एक ईसाई अच्छा ईसाई बने, एक मुसलमान अच्छा मुसलमान बने, एक हिन्दू अच्छा हिन्दू बने। सभी अपने-अपने धर्मों का पालन करते हुए आत्मोन्नति करें।

'प्रत्येक जीव शिव है', इस तत्त्व की अनुभूति श्रीरामकृष्ण देव को हुई थी। इसी के आधार पर स्वामी विवेकानन्द ने 'शिवभाव से जीवसेवा' का संदेश दिया। एक दिन ठाकुर ने नरेन्द्रनाथ से पूछा, ''तू क्या चाहता है?'' उन्होंने कहा, ''मेरी इच्छा है कि मैं भगवान शुकदेव की भाँति दिन-रात निर्विकल्प समाधि में डूबा रहूँ। शरीर धारण करने के लिए कभी-कभी बस भोजन भर के लिये उठूँ, फिर समाधि में डूब जाऊँ।'' नरेन्द्रनाथ का यह उत्तर सुनकर ठाकुर को तो प्रसन्न होना था कि कैसा योग्य शिष्य उन्हें मिला, जो धन-संपत्ति, सुख-समृद्धि, स्त्री-पुत्र किसी की भी इच्छा नहीं कर रहा है। वह तो उस समाधि की इच्छा कर रहा है, जो मानव जीवन का परम प्राप्तव्य है। पर, श्रीरामकृष्ण देव उससे प्रसन्न नहीं हुए। उन्होंने उन्हें लगभग धिक्कारते हुए कहा – अरे! मैं तो सोचा था तू विशाल वटवृक्ष की भाँति होगा, जिसकी छाया में हजारों लोग आश्रय पायेंगे। पर देखता हूँ, तू बड़ा स्वार्थी हो गया है। तू अपनी ही मुक्ति के चक्कर में पड़ा है। अरे! इससे भी एक ऊँची अवस्था है। बाद में ठाकुर ने स्वामीजी को बता दिया कि वह ऊँची अवस्था है – 'प्रत्येक जीव को शिव के रूप में देखना, कालान्तर में यह भाव स्वामी विवेकानन्द के जीवन में पूरी तरह से साकार हो गया। वे अब मुक्ति की कामना नहीं करते। उनके जीवन की कामना है – ''मैं बारम्बार जन्म लूँ और हजारों यातनाओं को सहूँ ताकि उस एकमात्र ईश्वर की पूजा कर सकूँ, जो अस्तित्ववान है, जिस पर मैं विश्वास करता हूँ, जो सभी आत्माओं का योग है।''

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित भक्तों का दायित्व है कि वे अपनी आध्यात्मिक साधना के लिये, ईश्वरप्राप्ति के लिये स्वामीजी के 'शिवभाव से जीवसेवा' का आदर्श अपनाएँ, 'आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च' के मंत्र को जीवन में चरितार्थ करते हुए साधना पथ में आगे बढ़ें। हमेशा हम सबको ध्यान रखना चाहिए कि भगवान दरिद्र और असहाय लोगों के माध्यम से हमारी सेवा ग्रहण करते हैं। इसीलिए स्वामीजी ने कहा था, ''तुम्हें ईश्वर को खोजने कहाँ जाना है, क्या गरीब अनाथ और निर्बल ईश्वर नहीं हैं? पहले उनकी पूजा क्यों नहीं करते? गंगा किनारे बैठकर कुँआ क्यों खोदते हो।''

'नारी का सम्मान' रामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आयाम है। पर यह नारी शताब्दियों से पीड़ित और प्रताड़ित हो रही है। देश और विश्व की आधी जनसंख्या महिलाओं की है और जब तक उन्हें सुख, सुविधा और सम्मान नहीं मिलता, तब तक समाज भी सुखी नहीं रह सकता। श्रीरामकृष्ण देव के आगमन के समय भारत में नारियों की अवस्था अत्यन्त दयनीय थी। तरह-तरह के अत्याचार उन पर किये जाते। पुरुषों के लिए वह वासनापूर्ति एवं सन्तानोत्पत्ति हेतु एक यंत्र मात्र बनकर रह गयी थी। हमने शास्त्रों में नारी की महिमा के अनेक गीत गाये। हमने शास्त्रों में कहा – 'या देवी सर्वभूतेषु मातृरूपेण संस्थिता', 'शक्तिरूपेण संस्थिता', 'विद्यारूपेण संस्थिता' पर हमारा व्यवहार इन तथ्यों के एकदम विपरीत हो गया था। जो नारी शास्त्रों में 'मातृरूपेण संस्थिता' थी, वह हमारे व्यवहार में 'भोग्या' हो गयी थी। उसे 'कामिनी' कहा जाने लगा था। जो नारी शास्त्रों में 'शक्तिरूपेण संस्थिता' थी, उसे व्यवहार में 'अबला' कहा जाने लगा था। जो नारी शास्त्रों में विद्यारूपेण संस्थिता' थी, उसे व्यवहार में 'मोहिनी' कहा जाने लगा

था। कबीरदासजी ने तो नारी को 'महाविकार' की संज्ञा दे दी। उन्होंने कहा –

नारी तो हमहुँ करी, तब न किया विचार।
जब जानी तब परिहरी, नारी महाविकार।।

पर, श्रीरामकृष्ण देव ने नारी की ऐसी कभी कोई निन्दा नहीं की। वे जीवन भर अपनी पत्नी के साथ रहे और उनकी महिमा के गीत गाते रहे। उन्होंने सदैव अपनी पत्नी में जगन्माता का रूप देखा और ५ जून, १८७२ को अमावस्या की रात्रि में कालीपूजा के शुभ पर्व पर देवी के स्थान पर अपनी पत्नी को प्रतिष्ठित किया और साक्षात् जगन्माता के रूप में उनकी पूजा की। उस समय माँ सारदा और श्रीरामकृष्ण देव दोनों समाधि में लीन हो गये। इस प्रकार श्रीरामकृष्ण देव ने हमारी भारतीय संस्कृति का आदर्श – 'या देवी सर्वभूतेषु मातृरूपेण संस्थिता' – जो काल के प्रवाह से दुर्बल हो गया था, अपने साधनामय जीवन द्वारा पुन: उसकी प्रतिष्ठा की। स्वामी विवेकानन्द ने भगवान श्रीरामकृष्ण देव के इस आदर्श को प्रचारित किया। नारी-शिक्षा के लिए उन्होंने अत्यधिक बल दिया। उन्होंने कहा, ''स्त्रियों की अवस्था को बिना सुधारे जगत के कल्याण की कोई सम्भावना नहीं है। पक्षी के लिए एक पंख से उड़ना सम्भव नहीं।''

रामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा मूलत: एक आध्यात्मिक आन्दोलन है। पर विज्ञान से उसका विरोध नहीं है। स्वामी विवेकानन्द को यह दृढ़ विश्वास था कि राष्ट्र का पुनर्निर्माण तब तक सम्भव नहीं है, जब तक यहाँ के लोगों को विज्ञान की सही शिक्षा न दी जाए। वे मानते थे कि धर्म और विज्ञान, दोनों मिलकर ही व्यक्ति और समाज को सुखी बना सकते हैं। एक स्थान पर स्वामीजी ने कहा है, ''भारत को यूरोप से बाह्य प्रकृति पर विजय प्राप्त करना सीखना होगा तथा यूरोप को भारत से आन्तरिक प्रकृति पर विजय प्राप्त करना सीखना होगा। फिर न तो कोई हिन्दू (भारतीय) होगा, न यूरोपियन। केवल एक आदर्श मानवता रहेगी, जिसने आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकृतियों पर विजय प्राप्त की है। हम लोगों ने मानवता के एक पक्ष को विकसित किया है और उन्होंने मानवता के दूसरे पक्ष को। आज इन दोनों के योग की आवश्यकता है।'' आज श्रीरामकृष्ण देव के भक्तों को स्वामीजी का यह संदेश स्मरण रखना है। उन्हें श्रीरामकृष्ण देव की यह बात भी याद रखनी है कि भूखे पेट में धर्म नहीं पहुँचता। आज आवश्यक है कि भूखे के पास धर्म हम रोटी के रूप में ले जाएँ, नंगे के पास धर्म वस्त्र के रूप में ले जाएँ, बीमार के पास धर्म औषधि के रूप में ले जाएँ। हमें मनुष्यों की आर्थिक और सामाजिक आवश्यकताओं की उपेक्षा नहीं करनी है, पर यह सब करते हुए भी हमें इस तथ्य को रंचमात्र भी नहीं भूलना है कि हमारे जीवन का मूल उद्देश्य आध्यात्मिक है। वह है ईश्वर की प्राप्ति करना।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा के प्रचार-प्रसार हेतु भक्तों का दायित्व अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जहाँ तक भक्तों की भूमिका का प्रश्न है, श्रीरामकृष्ण देव के जीवनकाल से ही हम देखते हैं कि भक्तों ने उनकी बहुत सेवा की और उनके संदेशों के प्रचार-प्रसार में बहुत योगदान दिया। यदि हम भगवान श्रीरामकृष्ण देव के जीवन पर दृष्टिपात करें, तो हम पाते हैं कि सन् १८७५ के बाद श्रीरामकृष्ण देव का गुरुभाव प्रारम्भ हुआ और लोग उनके व्यक्तित्व की सुरभि से आकर्षित होकर भौरों की भाँति उनके चारों ओर मंडराने लगे। उस समय उनके पास आने वाले दो प्रकार के लोग थे। एक तो अविवाहित युवकों का समूह था, जो महाविद्यालय या विद्यालय के छात्र थे और दूसरे गृहस्थ थे, जो जीवन के विविध क्षेत्रों में काम कर रहे थे। श्रीरामकृष्ण देव ने उन दोनों समूहों को दो अलग-अलग प्रकार से प्रशिक्षित किया। पहले समूह को जिसमें अविवाहित युवक थे, उन्हें संसार के आकर्षणों का त्याग करके संन्यास जीवन जीने के लिए प्रशिक्षित किया और दूसरे समूह को जिसमें गृहस्थ भक्त थे, उन्हें अपने गृहस्थ-धर्म का पालन करते हुए आध्यात्मिक जीवन जीने हेतु प्रशिक्षित किया। इन दोनों समूहों को श्रीरामकृष्ण देव ने अपने दिव्य प्रेम के बन्धन से अटूट रूप से बाँध दिया।

अपने जीवन के अन्तिम दिनों में श्रीरामकृष्ण देव अस्वस्थ हो गये। उन्हें चिकित्सा के लिए कलकत्ते में श्यामपुकुर और फिर काशीपुर में किराये के मकानों पर रखा गया। उस अवधि में श्रीरामकृष्ण देव के उपरोक्त दोनों प्रकार के भक्त श्रीरामकृष्ण के प्रेम की डोरी में बँधे रहे। उनके प्रेम का यह बन्धन श्रीरामकृष्ण देव की महासमाधि के बाद भी बना रहा। श्रीरामकृष्ण देव के युवा शिष्यों ने संन्यास-व्रत को अपनाया और रामकृष्ण मठ और

रामकृष्ण मिशन के नाम से संन्यासी-संघ का गठन किया

और उनके गृहस्थ भक्तों ने उनके कार्य के संचालन के लिए न केवल आर्थिक सहयोग प्रदान किया, अपितु वे उनके क्रियाकलापों में उत्साहपूर्वक भाग लेते रहे और उन्हें उत्साहित भी करते रहे। इन दोनों समूहों में प्रेम आज भी अविरल रूप से प्रवाहित हो रहा है। यहाँ पर यह भी बताना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होगा कि उपरोक्त दोनों समूहों ने अप्रतिम आध्यात्मिक प्रतिभासम्पन्न व्यक्तियों को जन्म दिया। श्रीरामकृष्ण देव के संन्यासी-शिष्य जिन्हें हम 'डायरेक्ट डिसाइपल' के नाम से जानते हैं, उनमें से प्रत्येक उच्चतम आध्यात्मिकता की प्रतिमूर्ति थे तथा उनके गृहस्थ-भक्तों का जीवन भी उच्चतम आध्यात्मिकता से ओत-प्रोत था तथा वे अन्य लोगों के लिए महान प्रेरणा के केन्द्र थे। इस श्रेणी में हम साधु नाग महाशय, बलराम बाबू, रामचन्द्र दत्त, महेन्द्रनाथ गुप्त आदि लोगों को सम्मिलित कर सकते हैं।

श्रीरामकृष्ण, श्रीमाँ सारदा तथा स्वामी विवेकानन्द के संदेश इतने सार्वभौमिक और सार्वकालिक हैं कि विविध जाति, देश, धर्म और संस्कृति वाले व्यक्ति भी उनसे अतिशय प्रेरित और लाभान्वित हो रहे हैं। इसलिए भारत में और विदेशों में भी इनकी माँग बहुत अधिक है। रामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा के प्रचार और प्रसार में रामकृष्ण मठ एवं मिशन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योगदान है, पर संन्यासियों की संख्या सीमित होने के कारण सभी स्थानों में मठ-मिशन के केन्द्र उपलब्ध नहीं हैं। इसलिए अनेक स्थानों पर रामकृष्ण के भक्त रामकृष्ण मिशन के संन्यासियों की प्रेरणा और निर्देशन में अथवा रामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से प्रभावित होकर संस्थाएँ स्थापित किये हुए हैं। इसे हम लोग 'प्राइवेट आश्रम' के नाम से जानते हैं। ऐसे प्राइवेट आश्रमों की संख्या लगभग १००० से भी अधिक है। इन प्राइवेट आश्रमों का संचालन स्थानीय भक्त समिति अथवा ट्रस्ट बनाकर करते हैं। इन प्राइवेट आश्रमों का संचालन रामकृष्ण मिशन की भावधारा के अनुरूप सुनिश्चित करने के लिए रामकृष्ण मिशन के निर्देशन में ही 'रामकृष्ण-विवेकानन्द भाव प्रचार परिषद' की स्थापना की गयी है, जिसकी राज्य-स्तरीय शाखाएँ हैं, जो आवश्यकतानुसार एक या अधिक राज्यों के 'प्राइवेट आश्रमों' को संचालित करती हैं। इसके अतिरिक्त संन्यासिनियों द्वारा सारदा मठ और सारदा मिशन संचालित किये जा रहे हैं, जो पहले रामकृष्ण मठ और मिशन के ही अंग थे। रामकृष्ण मठ-मिशन ने ही उन्हें सुव्यवस्था की दृष्टि से स्वतन्त्र संस्था का रूप दिया है। अब वे स्वतंत्र संस्था के रूप में विकसित होकर बालिकाओं और महिलाओं के मध्य रामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा के प्रचार-प्रसार के लिये सराहनीय कार्य कर रही हैं। इन सबके द्वारा लोगों का एक बड़ा समूह रामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से परिचित हो रहा है तथा वे जीवन के उच्चतर आध्यात्मिक मूल्यों के प्रति समर्पित हो रहे हैं। यहाँ पर विवेकानन्द केन्द्र, कन्याकुमारी और विवेकानन्द युवा महामंडल, कोलकाता के नामों का भी उल्लेख करना प्रांसगिक होगा, जो राष्ट्रीय स्तर पर रामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा के प्रचार-प्रसार में अपना योगदान दे रहे हैं।

रामकृष्ण-विवेकानन्द भाव आन्दोलन के प्रचार और प्रसार के लिये इतना ही प्रयास पर्याप्त नहीं है। अभी हमें और अधिक परिश्रम करने की आवश्यकता है। इस सम्बन्ध में मुझे रामकृष्ण मठ-मिशन के ग्यारहवें महाध्यक्ष परम पूज्यपाद श्रीमत् स्वामी गम्भीरानन्द जी महाराज की वाणी का स्मरण हो रहा है। वे कहते हैं, 'रामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा का प्रचार और शिवभाव से जीवसेवा का कार्य केवल रामकृष्ण मठ-मिशन तक ही सीमित न रखा जाए, अपितु पूरे संसार में उसे बिखेर दिया जाए। सारे भक्तों के घर एक-एक मठ और मिशन का रूप ले लें। भगवान श्रीरामकृष्ण देव स्वयं कह गये हैं कि भगवान ने जो परिवार-परिजन दिया है, वह इसलिए कि व्यक्ति उनकी सेवा करे, नारायण समझकर उनका पालन-पोषण करे। परिवार की सेवा इसलिए नहीं कि वह परिवार है, बल्कि इसलिए कि नारायण ही विभिन्न नाम-रूपों में हमारे सामने विद्यमान हैं। इसलिए वस्तुत: परिवार के सदस्यों की सेवा, उस नारायण की ही सेवा है। इस भाव से कार्य करने पर प्रत्येक घर एक-एक सेवा-केन्द्र का रूप ले सकता है। इससे परिवार में सुख और शान्ति आयेगी। जब पास-पड़ोस के लोग उस परिवार को देखेंगे, तो वे भी उस भाव से अनुप्राणित होंगे। फिर जिन लोगों के पास सामर्थ्य है, वे परिवार से आगे बढ़कर

शेष भाग पृष्ठ २२९ पर

आध्यात्मिक जिज्ञासा (२९)

स्वामी भूतेशानन्द

प्रश्न – महाराज ! जब आश्रम में बहुत उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य रहता है, तब उसकी ही चिन्ता बनी रहती है। हमेशा उसी का चिन्तन होता रहता है। इससे साधन-भजन में कठिनाई होती है। इस स्थिति में हमलोगों को क्या करना चाहिये?

महाराज – तुमने ठीक कहा है, ऐसा होता है। इस सम्बन्ध में हमारे जीवन का एक अनुभव सुनो। उस समय मैं शिलांग में था। मैं अपनी क्षमतानुसार साधन-भजन, ठाकुर का चिन्तन और स्मरण-मनन करता था। एक भवन-निर्माण का काम चल रहा था। मैं उसकी देखभाल कर रहा था। अब हमेशा उसी की चिन्ता रहती थी। यहाँ तक कि ध्यान-जप करते समय भी वही बात याद आती थी। मैं तो बड़ी कठिनाई में पड़ गया। सोचा – यह क्या हुआ? ईश्वर-चिन्तन के बदले यह क्या हो रहा है? बड़ी चिन्ता हुई। किन्तु देखा, भवन-निर्माण हो गया और चिन्ता का भार भी मेरे सिर पर से उतर गया। पुन: मन की पहले जैसी अवस्था वापस आ गई। ऐसा होता है। कर्म के बीच में भी यथासम्भव ईश्वर-चिन्तन और प्रार्थना किया जाता है। हाँ, कार्य सम्पूर्ण होने के बाद पुन: पूर्वावस्था वापस आ जाती है। कार्य तो सदा एक समान नहीं रहता है।

प्रश्न – महाराज, साधन-भजन में उत्साह कैसे बढ़ाया जाय? बीच-बीच में लगता है, मानो एक जैसा ही चल रहा है।

महाराज – उत्साह को बार-बार प्रयत्न करके बढ़ाया जाता है। बार-बार प्रयत्न करने से बढ़ता भी है। एक जैसा ही होता है, अर्थात् जिसे हमलोग एकांगी दैनन्दिन प्रायश्चित कहते हैं। करना पड़ता है, इसलिए कर रहा हूँ, ऐसा नीरस मनोभाव आन्तरिकता के अभाव में होता है। ईश्वर-प्राप्ति के लिये हृदय में तीव्र व्याकुलता और उनके लिए मन में अत्यन्त अभाव का बोध नहीं होने तक साधन-भजन ठीक नहीं होता है।

प्रश्न - क्या इस अभाव-बोध को पुरुषार्थ के द्वारा दूर किया जा सकता है ?

महाराज – देखो, ऐसा करने से होता है, वैसा करने से होता, ऐसा ईश्वर-प्राप्ति के क्षेत्र में नहीं कहा जा सकता है। किन्तु कैसी व्याकुलता, कैसा अभाव-बोध होने से ईश्वर-प्राप्ति होती है, इस अवस्था को हमलोग ठाकुर और अन्यान्य साधकों के जीवन में पाते हैं। यदि किसी को ऐसा होता है, तो उसे ईश्वर-प्राप्ति होगी। निरंजन (स्वामी निरंजनानन्द) को ईश्वर-प्राप्ति कब होगी, इसे सोचकर ठाकुर चिन्तित हैं। वे कहते हैं – "अरे निरंजन ! तुम ईश्वर-प्राप्ति कब करोगे? दिन बीतते जा रहे हैं।" देखो, निरंजन के लिये उन्हें कितनी चिन्ता है ! राजा महाराज तो और भयंकर बात कह रहे हैं, "जो करना है तीस वर्ष के भीतर ही कर लो।" क्योंकि युवावस्था की वह तीव्रता, वह व्याकुलता आयु बढ़ने पर नहीं रहती है। प्रमाद आ जाता है। अधिक सम्भव नहीं होता। कई लोगों की आयु तो तीस से अधिक हो ही गई है। किन्तु क्या करोगे? श्रीशंकराचार्य जी कहते हैं –

दुर्लभं त्रयमेवैतद्-देवानुग्रहहेतुकम्।
मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयः ।।

(विवेकचूडामणि, श्लोक-३)

ये तीनों दुर्लभ हैं – मनुष्यत्व, मुमुक्षुत्व और महापुरुष का सान्निध्य। मानव-जन्म तो मिला। नहीं तो, इसके पहले कितनी बार कुत्ता-बिल्ली जैसे जन्म लिए और कितनी बार मरे हैं। महापुरुष का सान्निध्य भी मिला। किन्तु मुमुक्षुत्व न आये, यदि इस जन्म-मरण के परे जाने के लिये तीव्र व्याकुलता न आये, तो कुछ भी नहीं हुआ। क्या भगवान के लिए जीवन असहनीय, तीव्र व्यग्रता का बोध हो रहा है? क्या मन में एक तीव्र अभाव-बोध – जैसे कोई गमछा निचोड़ने जैसा कष्ट हो रहा है? किन्तु ठाकुर कहते हैं –

व्याकुलता हुई, अरुणोदय हुआ, तो सूर्योदय होने में अब विलम्ब नहीं है। (सभी स्तब्ध हैं)।

थोड़ा रुककर महाराज पुन: कहने लगे – बीच-बीच में अपने भीतर देखना होगा कि क्या कर रहा हूँ? महापुरुषों का संग और सद्ग्रन्थ का अध्ययन करना चाहिये, किन्तु सदाचार के साथ इसका पालन करना चाहिये, इसे अपने जीवन में अनुशीलन करने की चेष्टा करनी चाहिए।

प्रश्न – हरि महाराज एक स्थान पर कहते हैं, जो संसार को हीन बोध कर उपेक्षा कर सकता है, वही वीर है। हमलोगों की तो संसारातीत कुछ भी धारणा ही नहीं हो रही है। संसारातीत की कुछ धारणा नहीं होने से कैसे संसार की सारी वस्तुओं की उपेक्षा करना सम्भव है?

महाराज – क्या संसार बाहर है? यह शरीर ही संसार है। क्या इस शरीर के प्रति आसक्ति, आकर्षण कम हो रहा है? कम नहीं हो रहा है।

प्रश्न – महाराज ! स्वामीजी ने कार्य को सुचारु रूप से करने को कहा है। जैसे कार्य में आसक्त होना आवश्यक है, वैसे ही अनासक्त होने का भी प्रयास करना चाहिए।

महाराज – क्या एक साथ आसक्त और अनासक्त होना सम्भव है? क्या एक साथ प्रकाश और अन्धकार का रहना सम्भव है?

– किन्तु महाराज, स्वामीजी ने तो कहा है कि कर्म में आसक्ति या उत्साह आवश्यक है?

महाराज – उत्साह की आवश्यकता है, नहीं तो मठ-मिशन चलेगा कैसे?

– तब महाराज ! एक साथ आसक्त और अनासक्त होना, स्वामीजी के इस कथन का क्या तात्पर्य है ?

महाराज – इसका तात्पर्य है, जब कर्म कर रहे हैं, तो बहुत आसक्त होकर कर रहे हैं, प्राणपण से पूर्ण एकाग्रता से कर रहे हैं। किन्तु जब आवश्यकता पड़ी, तो तुरन्त उससे अपने को अलग कर ले रहे हैं। उससे स्वयं को पृथक् करने में तनिक भी कठिनाई नहीं होगी। अर्थात् अभी कर्म कर रहा हूँ, पुन: उसे छोड़ने की आवश्यकता हुई, तो तुरन्त छोड़ दिया। जब ऐसी अनासक्ति सम्भव होगी, तब क्या वह कर्म आसक्त होकर किया जा रहा था? कर्म में आसक्ति होने पर लगेगा कि अब डूबा कि तब डूबा। हम लोगों को तो कह दिया गया है – ''सभी कर्म ठाकुर का समझ कर करना।'' किन्तु अन्त में अहंकार सिर पर सवार हो जाता है। एक बार अहंकार सिर पर सवार होने से – गया, सब कुछ चला गया।

– अहंकार के सिर पर सवार होने को कैसे बन्द किया जाए?

महाराज – यह विचार के द्वारा जायेगा। कर्म नहीं करने से यह नहीं जाता है।

– क्या कर्म करते समय विचार करेंगे या बाद में?

महाराज – कार्य की अवधि में विचार करना अच्छा है, नहीं तो आगे-पीछे, पहले या बाद में सोच-विचार किया जाता है।

प्रश्न – ठाकुर ने कहा है, जो लोग आन्तरिकता से जप-ध्यान कर रहे हैं, उन्हें यहाँ आना ही होगा। उन्होंने ऐसा क्यों कहा?

महाराज – क्योंकि इस बार मानव को उनका भाव ग्रहण करना होगा। इस बार उनका भाव ही युग-भाव है, युगधर्म है। 'उनके पास' का अर्थ है, उनका उदार भाव मानव को ग्रहण करना होगा, वह चाहे जहाँ भी रहे, जहाँ से भी मिले। **(क्रमश:)**

जैसे तुम आये प्रभु !

सुखदराम पाण्डेय, लखनऊ

जैसे तुम आये यहाँ, कौन वैसा आयेगा।
तपे जले जनों को, कौन अपनाएगा।।
सदियों बहते रहेंगे, हम समय की धारा में।
और गिर-गिर पड़ेंगे, जल-भँवर की कारा में।।
डूबते लोगों को प्रभु ! कौन आ बचायेगा।
जैसे तुम आये यहाँ कौन वैसा आयेगा।।
अहा ! गिरीश का क्या काम किया है तूने !
बद से भी बदतर को भी निज नाम दिया है तूने।।
दया का सागर लिये कौन भू पर आयेगा।
जैसे तुम आये यहाँ कौन वैसा आयेगा।।
नटी विनोदिनी के जीवन को सार दिया।
रसिक मेहतर को प्रभु ! पल भर में पार किया।।
खोजने भक्तों को नाथ ! कौन घर-घर जायेगा।।
जैसे तुम आये यहाँ कौन वैसा आयेगा।।

आधुनिक मानव शान्ति की खोज में (२१)

स्वामी निखिलेश्वरानन्द

अध्यक्ष, रामकृष्ण आश्रम, राजकोट

प्रत्येक परिस्थिति में शान्त रहने की कला

आजकल बालक छोटा होता है, तभी से अभिभावक विविध प्रकार की कला सीखने के लिये उसे भिन्न-भिन्न कक्षाओं में भेजने लगते हैं, परन्तु कहीं भी 'प्रत्येक परिस्थिति में शान्त किस प्रकार रहें?' ऐसी कोई कक्षा देखने को नहीं मिलती है। इसलिये मनुष्य जीवन की पाठशाला में भटकते, ठोकर खाते, गिरते-पड़ते, निराश होते-होते इस कला को स्वयं सीख लेता है। परन्तु इसमें उसके जीवन का अधिकांश भाग व्यतीत हो जाता है। इसलिये यदि बचपन से ही बालक को प्रत्येक परिस्थिति में स्वस्थ रहना सिखलाया जाय, तो वह अपने जीवन में तेजी से विकास कर सकता है।

प्रत्येक मनुष्य के जीवन में कठिनाइयाँ और संघर्ष तो आते ही हैं। क्योंकि जीवन का अर्थ ही संघर्ष है। स्वामी विवेकानन्द जीवन की परिभाषा देते हुए कहते हैं – ''जीव को दबाए रखने वाली प्रतिकूल अवस्थाओं के मध्य उसके (अन्त:शक्ति के) अनावरण और विकास को जीवन कहते हैं।'' विपरीत संयोगों में जो हताश और निराश हो जाते हैं, वे जीवन में आगे बढ़ नहीं सकते हैं। प्रत्येक परिस्थिति में मन को स्वस्थ रखकर जो कार्य करते रहते हैं, वे ही जीवन के युद्ध में विजयी होते हैं। जीवन की प्रत्येक परिस्थिति में स्थिर कैसे रहें?

प्रत्येक परिस्थिति में स्वस्थ और शान्त रहने की कला हमें गीता सिखाती है। गीता में दूसरे अध्याय में बताये गये स्थितप्रज्ञ के लक्षणों वाला मनुष्य ही प्रत्येक परिस्थिति में शान्त और स्थिर रह सकता है। श्रीकृष्ण कहते हैं –

दु:खेष्वनुद्विग्नमना: सुखेषु विगतस्पृह: ।
वीतरागभयक्रोध: स्थितधीर्मुनिरुच्यते।।(गीता २/५६)

दुखों की प्राप्ति होने पर जिसके मन में उद्वेग नहीं होता, सुखों की प्राप्ति में जो सर्वथा नि:स्पृह है तथा जिसके राग, भय और क्रोध नष्ट हो गये हैं, ऐसा मुनि स्थिरबुद्धि कहा जाता है। स्थिर बुद्धिवाला मनुष्य ही सभी परिस्थितियों में समता बनाये रख सकता है, शान्त और स्थिर रह सकता है। जब तक मनुष्य की बुद्धि स्थिर नहीं होती है, तब तक उसे शान्ति नहीं मिलती है और अशान्त मनुष्य को कभी सुख नहीं मिलता है। अत: सच्चा सुख और शान्ति यदि मनुष्य को प्राप्त करना हो, तो उसे स्थितप्रज्ञ होना पड़ता है। अब प्रश्न यह उठता है कि स्थितप्रज्ञ कैसे बन सकते हैं? स्थितप्रज्ञ बनने के लिये स्थितप्रज्ञ के जो लक्षण हैं, उन लक्षणों को जीवन में आचरण करते हुए ही मनुष्य स्थितप्रज्ञ बन सकता है। केवल ये लक्षण – जैसे दुख में उद्वेग नहीं, सुख की स्पृहा नहीं, राग-भय, क्रोध से मुक्ति को जानने से स्थितप्रज्ञ नहीं बन सकते हैं। ये सब दैनिक जीवन-व्यवहार में जीए जायँ, तभी स्थितप्रज्ञ बनते हैं। अब दैनिक जीवन में आनेवाली भिन्न-भिन्न विकट परिस्थितियों में किस प्रकार शान्त रहें, आइये, इसे देखते हैं।

दुख और विपत्ति के पहाड़ टूट पड़े तब

जब दुख और विपत्ति आती है, तब सचमुच में मनुष्य को ऐसा लगता है कि उसके ऊपर दुख का पहाड़ टूट पड़ा है। वह उस भार के नीचे कुचला जा रहा है, घुट रहा है। ऐसी स्थिति में मनुष्य व्यग्र हो जाता है। इधर-उधर भाग-दौड़ करने लगता है। लेकिन शान्त और स्थिर अडिग खड़े रहकर विपत्ति और कठिनाइयों का सामना करने से वे चली जाती हैं। स्वामी विवेकानन्द के जीवन की एक घटना है। स्वामी विवेकानन्द एक दिन वाराणसी में घूम रहे थे। उनके पीछे बन्दर लग गये, तो वे तेजी से भागने लगे, जैसे-जैसे वे तेजी से भाग रहे थे, वैसे-वैसे बन्दर भी पीछे-पीछे तेजी से भागने लगे। दूर खड़े एक वृद्ध संन्यासी ने यह दृश्य देखा और आवाज देकर कहा, ''साधु, भागो मत, डटे रहो।'' स्वामी विवेकानन्द ने यह सुना और वे बन्दर के सामने मुँह करके स्थिर खड़े हो गये। उन्होंने आश्चर्य से देखा कि बन्दरों की टोली भी उनके सामने खड़ी हो गई और फिर एक-एक करके बन्दर सब भाग गये। स्वामी विवेकानन्द लिखते हैं, ''इस अनुभव ने मुझे जीवन का एक महत्त्वपूर्ण पाठ सिखाया कि कोई भी परिस्थिति आए, तो उससे डरकर भागना नहीं है, साहस पूर्वक उसके सामने हो जाओ।'' सच है, मुश्किलों के सामने जो अडिग रह सकता है, उसके सामने मुश्किलों का जोर, दबाव कम हो जाता है।

जब-जब जीवन में विषमतम परिस्थिति आये, तब हताश होने के बदले यह सोचो कि ''यह भी चली जाएगी।'' इस सन्दर्भ में एक कहानी है। एक राजा के यहाँ एक साधु-महात्मा

आए, राजा ने उनकी बहुत सेवा की। उन्होंने प्रसन्न होकर राजा को कहा, ''लो यह ताबीज अपने गले में पहने रखना। जब कभी तुम बहुत मुश्किल में पड़ो तब और जब बहुत आनन्द में रहो तब, इस ताबीज को खोलकर पढ़ लेना। इसमें मेरा संदेश है, जो तुम्हारे जीवन में बहुत काम आएगा।''

राजा ने महात्मा का प्रसाद समझकर उस ताबीज को स्वीकार कर लिया और अपने गले में पहन लिया। इस बात को बहुत समय बीत गया। एक बार दूसरे राजा ने उनके राज्य पर आक्रमण कर दिया और उन्हें पराजित करके उनका राज्य छीन लिया। राजा को बन्दी बनाने की तैयारी हो रही थी, परन्तु वह राजा राजमहल के गुप्त द्वार से जान बचाकर भाग निकला। वह रात के अंधेरे में छिपता हुआ, एक घने जंगल में आ पहुँचा। राजा का सब कुछ खो चुका था, वह निराश होकर आत्महत्या करने जा रहा था कि उसे महात्मा के शब्द याद आ गये कि 'बहुत दुखी हो, तो मेरा संदेश पढ़ लेना।' उसने ताबीज खोला, उसमें दो चिट्ठी थी, एक पर लिखा था, 'अतिशय दुख के समय', दूसरे पर लिखा था, 'अतिशय सुख के समय'। राज ने दुख के संदेश की चिट्ठी खोली, उस पर लिखा था, ''यह समय भी चला जाएगा।'' महात्मा के इस संदेश पर राजा विचार करता रहा और उसने आत्महत्या का मार्ग छोड़ दिया। फिर जंगल में गुप्त रहकर अपने विश्वासपात्र लोगों को एकत्रित किया और आक्रमण करके अपना राज्य वापस लिया और उस राजा का राज्य भी ले लिया। फिर सुख के दिन आ गये। जब वह अतिशय आनन्द में था, तो उसे उन महात्मा के शब्द याद आ गए। उसने संदेश पढ़ने के लिए ताबीज खोला, तो दूसरी चिट्ठी में भी वही संदेश था, 'यह समय भी चला जाएगा।' राजा को पहले तो आश्चर्य हुआ। लेकिन गहरे चिन्तन के बाद उसे समझ में आया कि सुख और दुख दोनों में मनुष्य को समान रहना चाहिए, समता बनाए रखनी चाहिए।

अमेरिका के प्रेसिडेण्ट अब्राहम लिंकन ने भी अपने कमरे में इसी अर्थ का वाक्य जड़वा कर रखा था, ''यह समय भी बीत जाएगा।'' इसके विषय में लिंकन से पूछा गया, तो उन्होंने कहा था, ''मुश्किलें जब आती हैं, तब मैं सोचता हूँ कि यह समय भी बीत जाएगा। इसलिये मुश्किलें मुझे व्यग्र नहीं करती हैं और जब सिद्धि और सफलता मिलती है, तब यह वाक्य मुझे गर्व-अंहकार से दूर रखता है।'' 'यह समय भी बीत जाएगा', यदि यह वाक्य लिंकन की तरह हमें भी याद रहे, तो जीवन की कठिन परिस्थितियों में सामना करने का हमें भी बल मिलेगा। **(क्रमशः)**

पृष्ठ २२५ का शेष भाग

दूसरे लोगों के प्रति सहानुभूति से भरकर उनकी सहायता के लिये अपना हाथ आगे बढ़ायेंगे। इस प्रकार इन सभी लोगों के माध्यम से श्रीरामकृष्ण देव का भाव प्रचारित होगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि भक्त रामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटक हैं। गृहस्थ भक्तों के महत्त्व का वर्णन करते हुए स्वामी प्रेमानन्दजी ने एक पत्र में अपने एक भक्त को लिखा था – ''केवल भगवान के भक्त ही हमारे मित्र, सम्बन्धी, बच्चे और सब कुछ हैं। सुख-दुख में तुम्हीं लोग ही हमारे परम आत्मीय हो। कितने आश्चर्य की बात है कि इस संसार में रहते हुए भी तुम श्रीरामकृष्ण देव के प्रति शुद्ध भक्ति की कामना रखते हो। सामान्य लोगों की ओर देखें, तो हम पाते हैं कि वे लोग कैसे धन, कीर्ति और लौकिक ज्ञान के प्रति पागल हैं। संसार की भयावहता में केवल ईश्वर ही वास्तविक-सुख और शान्ति का स्रोत है।''

यह रामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा हमारे जीवन में सुख और शान्ति की अनुभूति के लिए महान सम्बल है। इस देश में ऐसी अनेक संस्थाएँ हैं, जो व्यक्ति को इस बात के लिए आश्वस्त करती हैं कि उनकी संस्था में प्रवेश करने से उन्हें शीघ्र ही धन, सम्पत्ति, वैभव-कीर्ति, स्त्री-पुरुष आदि सभी वस्तुएँ मिल जाएँगी और उनके दुखों का अन्त हो जाएगा, पर रामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा हमें प्रारम्भ से बताती है कि इन सांसारिक विषय-भोगों के त्याग से ही जीवन में वास्तविक सुख शान्ति आयेगी। इसलिए इस भावधारा की धारणा करना और इसे स्वीकार करना अपेक्षाकृत कठिन है। क्योंकि व्यक्ति की स्वाभाविक प्रवृत्ति भोगों की ओर होती है, न कि त्याग की ओर। पर सचमुच धन्य हैं वे लोग, जो इस भावधारा से जुड़े हैं, उससे भी अधिक धन्य हैं वे लोग, जिन्होंने इसका रसास्वादन किया है और सबसे अधिक धन्य हैं वे लोग, जो इसका रसास्वादन कर दूसरों में भी इसका वितरण करते हैं। श्रीठाकुर की कृपा हम सब पर हो, यही उनसे प्रार्थना है। OOO

रामकृष्ण संघ के संन्यासियों का दिव्य जीवन (२९)

स्वामी भास्करानन्द

(रामकृष्ण संघ के महान संन्यासियों के जीवन के प्रेरणाप्रद प्रसंगों की सरल, सरस और सारगर्भित प्रस्तुति स्वामी भास्करानन्द जी महाराज, मिनिस्टर-इन-चार्ज, वेदान्त सोसायटी, वाशिंग्टन ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'Life in Indian Monasteries' में की है। 'विवेक ज्योति' के पाठकों हेतु इसका हिन्दी अनुवाद रामकृष्ण मिशन आश्रम, भोपाल के ब्रह्मचारी चिदात्मचैतन्य ने किया है। – सं.)

स्वामी जगदानन्द – एक आदर्श संन्यासी

स्वामी जगदानन्द

स्वामी जगदानन्द (१८७९-१९५१) श्रीमाँ सारदा देवी के शिष्य थे। वे अपने पूर्वाश्रम के जीवन में विवाहित थे और शिलाँग के एक सरकारी उच्च विद्यालय में कार्य कर चुके थे। एक बार वे किसी का श्रीरामकृष्ण-वचनामृत पर प्रवचन सुनने के लिए गये। वचनामृत में श्रीरामकृष्ण आध्यात्मिक जीवन में त्याग की आवश्यकता के विषय में उपदेश दे रहे थे। उन शब्दों ने उनको अत्यधिक प्रेरित किया और वे अन्त में रामकृष्ण संघ में साधु के रूप में सम्मिलित हो गये। जब वे संघ में थे, उन्होंने तीव्र आध्यात्मिक साधना के द्वारा एक उच्च आध्यात्मिक अवस्था प्राप्त की थी।

श्रीमाँ सारदा देवी ने उनके सम्बन्ध में कहा था, "वह योगभ्रष्ट ऋषि है (वह व्यक्ति जिसकी पूर्व जन्म में बिना ईश्वरानुभूति किये ही मृत्यु हो गयी हो)। "

जगदानन्द महाराज स्वभावत: शान्त एवं गम्भीर रहते थे और सामान्यत: अपने विचार में मग्न रहना पसन्द करते थे। लेकिन वे शास्त्रों के अच्छे ज्ञाता भी थे और जो कोई भी उनके साथ शास्त्रीय विषयों पर वार्तालाप करना चाहता था, वे उसे आनन्द से सहायता करते थे। यद्यपि वे शास्त्रपारंगत थे, लेकिन मिथ्या पाण्डित्यपूर्ण अहंकार से मुक्त थे।

एक बार कुछ पण्डित उनके पास शास्त्र-चर्चा करने के लिए आये। चर्चा के दौरान उन लोगों ने महाराज के साथ तर्क, वाद-विवाद करना आरम्भ कर दिया और किसी विशेष उद्धरण की व्याख्या पर कुछ आपत्ति की। स्वामी जगदानन्द जी ने विनम्रतापूर्वक उनके पक्ष का खण्डन किया। उसके बाद पण्डितवृन्द महाराज को धन्यवाद देकर चले गये।

लेकिन उन लोगों के पाण्डित्यपूर्ण अहंकार को चोट पहुँची थी। दो या तीन दिनों के बाद वे लोग पुन: आये और महाराज से कहा, "महाराज, हम लोग आपके साथ कुछ और शास्त्रीय चर्चा करने के लिए आये हैं।" अपनी बौद्धिक श्रेष्ठता को सिद्ध करने के लिए वे लोग इस बार अच्छी तरह से अध्ययन करके आये थे। जगदानन्द महाराज ने उनलोगों के आने के उद्देश्य का अनुमान लगा लिया। उन्होंने उन लोगों को हाथ जोड़कर प्रणाम करते हुये कहा, "आप सबका हार्दिक स्वागत है, लेकिन शास्त्र-चर्चा करने की अब और अधिक आवश्यकता नहीं हैं। मैं स्वीकार करता हूँ कि पूर्व में हम लोगों के बीच हुए शास्त्र-चर्चा में आप लोग विजयी हुए और मैं हार गया।"

स्वामी जगदानन्द को किस प्रकार श्रीमाँ सारदा देवी से दीक्षा प्राप्त हुई थी, इस सम्बन्ध में स्वामी बोधात्मानन्द से मैंने विलक्षण घटना सुनी थी। संन्यासी होने के पूर्व जगदानन्द महाराज की मन्त्र-दीक्षा हुई थी। वे और उनके एक घनिष्ठ मित्र श्रीमाँ के पास गये और दोनों ने दीक्षा के लिए प्रार्थना की। श्रीमाँ ने जगदानन्द को एक किनारे ले जाकर कहा, "बेटा, तुम और तुम्हारा मित्र दोनों पूर्व जन्म में एक स्थान पर थे। इस समय भी एक ही स्थान पर आ गये हो। पूर्व जन्म में तुम्हारा मित्र तुम्हारा गुरु था और तुम उसके शिष्य थे। यदि तुम मुझसे दीक्षा लेना चाहते हो, तो तुम्हें पहले अपने मित्र से अनुमति लेनी होगी।"

स्वामी जगदानन्द ने अपने मित्र से अनुमति माँगी, लेकिन उनके मित्र ने ऊपरी तौर से जगदानन्द को परेशान करने के लिए तुरन्त अनुमति नहीं दी। जो भी हो, उन्होंने बाद में अनुमति दे दी थी।

तत्पश्चात् श्रीमाँ ने उन दोनों को मन्त्र-दीक्षा प्रदान की। दीक्षा के उपरान्त माँ ने जगदानन्द से कहा, "तुम पूर्व जन्म में ऋषि थे और पुन: वही हो गये हो !"

स्वामी प्रणवात्मानन्द महाराज ने स्वामी जगदानन्द महाराज के सम्बन्ध में हमलोगों को निम्नलिखित संस्मरण सुनाया था – "स्वामी जगदानन्द को जैसाकि मैं जानता था, वे अत्यन्त प्रेमिक और स्नेही साधु थे। बाह्य दृष्टि से

वे अल्पभाषी एवं गम्भीर दीखते थे, लेकिन उनका हृदय प्रेम एवं सहानुभूति से परिपूर्ण था। जब मैं बेलूड़ मठ में संघ में सम्मिलित हुआ, तब मेरी आयु बहुत कम थी। मेरे प्रवेश करने के कुछ ही दिनों बाद मुझे स्वामी जगदानन्द महाराज के साथ ट्रेन से कहीं जाना पड़ा। यह यात्रा लगभग तीन घण्टे की थी। जिस कोच में हमलोग प्रवेश किये, वह यात्रियों से खचाखच भरा था। जगदानन्द महाराज को बैठने के लिए स्थान मिल गया, लेकिन मुझे खड़ा रहना पड़ा। जगदानन्द महाराज ने मुझे अपनी गोद में बैठने के लिए कहा। मैंने इसका प्रबल विरोध किया, लेकिन मेरे विरोध के बावजूद उन्होंने मुझे अपनी गोद में बैठने के लिए सहमत कर लिया। मैं पूरे तीन घण्टे उनकी गोद में बैठा रहा, जब तक कि हम अपने गन्तव्य स्थान पर नहीं पहुँच गये। उन्होंने अपने छोटे संन्यासी भाई की परेशानी का कैसे अनुभव किया, यह घटना उसका उदाहरण है।''

''एक अन्य उदाहरण है। मैं उस समय स्वामी जगदानन्द महाराज के साथ कश्मीर की यात्रा कर रहा था। तब हम दोनों तीर्थयात्रा पर थे और हमलोगों को अत्यन्त ठण्ड के मौसम में मीलों पैदल चलना पड़ा था। इसके कारण ऐसा लगता था कि मेरे हाथों की बहुत-सी शक्ति चली गयी। उनमें बहुत दर्द होने लगा, मैं अपने हाथों को अपने कन्धों पर नहीं ले जा पा रहा था। इससे जगदानन्द महाराज बहुत चिन्तित हो गये। हमलोग कश्मीर के अल्प जनसंख्यावाले पहाड़ी क्षेत्रों से जा रहे थे। महाराज ने गठिया के लिए कुछ औषधीय तैल और कुछ बाघ की चरबी (जो जोड़ों के दर्द के लिए आरामदायक मानी जाती है) को ग्रामीणों से प्राप्त किया। तदनन्तर महाराज उससे मेरे हाथ और कंधों की मालिश करने लगे।

हमारे संघ में कनिष्ठ साधुओं द्वारा वरिष्ठ साधुओं की सेवा की अपेक्षा की जाती है, किन्तु उन्हें वरिष्ठ संन्यासियों से सेवा नहीं लेनी चाहिये। अत: मैंने बारम्बार जगदानन्दजी से कहा, ''महाराज, आप मेरी मालिश मत कीजिए, मुझे स्वयं करने दीजिए।'' लेकिन उन्होंने मेरी एक भी बात नहीं सुनी। जब तक मैं स्वस्थ नहीं हो गया, तब तक वे मेरे हाथ की कई दिनों तक नियमित मालिश करते रहे।

''मैंने जो प्रेम और स्नेह उनसे प्राप्त किया, उसको विस्मृत करना मेरे लिए बहुत कठिन है। उन दिनों हमारे आश्रमों में बहुत साधारण भोजन मिलता था। भोजन में विरले ही कभी दूध मिलता था। वरिष्ठ संन्यासियों को रात में कभी-कभी दूध दिया जाता था। एक दिन भोजन-कक्ष में मैं जगदानन्द महाराज के पास बैठा था। जब उनको एक गिलास दूध दिया गया, तो उन्होंने अविलम्ब उसे मुझे दे दिया तथा उसको पीने के लिए मुझ पर दबाव देने लगे। यद्यपि वे सदैव दूसरों की सेवा करने के लिए उत्सुक रहते थे, लेकिन स्वयं किसी दूसरे से सेवा लेना पसन्द नहीं करते थे।

''वे ध्यानपरायण थे, लेकिन मैंने कभी भी उनको दिन में आसन लगाकर ध्यान करते हुए नहीं देखा। जब कोई संन्यासी या भक्त उनसे मिलने के लिए आता, तो वे उनसे सामान्य रूप से वार्तालाप करते थे। लेकिन जैसे ही वे लोग चले जाते, वे अपनी आँखें बन्द कर पुन: ध्यानमग्न हो जाते। यदि पुन: कोई उनसे भेंट करने आता, तो वे फिर से आँखें खोलते और उससे आवश्यकतानुसार वार्तालाप करते। जब वह व्यक्ति वहाँ से चला जाता, तो वे पुन: अपनी आँखे बन्द कर ध्यान में लीन हो जाते। इस प्रकार वे सम्पूर्ण दिन अन्तर्विराम ध्यान किया करते थे। उनके बारे में स्वामी शिवानन्द महाराज ने कहा था, ''वे समाधि-अनुभूति करनेवालों में से एक हैं।''

''उनकी महासमाधि की घटना भी अद्‌भुत है। मृत्यु के कुछ देर पहले असहनीय कष्ट के कारण वे कुछ समय के लिए अचेत हो गये थे। बाद में सचेत होने पर एक सच्चे अद्वैतवादी की भाँति वे उच्च स्वर में कहने लगे, ''मैं शरीर नहीं हूँ, मैं प्राण नहीं हूँ, मैं मन नहीं हूँ, मैं इन्द्रिय नहीं हूँ... इत्यादि।'' अन्त में उन्होंने 'अहं ब्रह्मास्मि !' (मैं ब्रह्म हूँ!) कह कर शरीर-त्याग दिया।'' **(क्रमश:)**

पृष्ठ २०७ का शेष भाग

अड़तालीस साल। चौबीस साल अध्ययन, चौवालिस साल एक प्रकार से अपने लिए, परिवार के लिए जीवन बिताया, समाज के लिए तो रहेगा ही, पर प्रमुखता रहेगी अपने लिए जीने की। बाकी जो अड़तालीस साल का जीवन है उसमें प्रमुखता रहेगी दूसरों के लिए जीने की। यहाँ उपनिषद में इस प्रकार से बँटवारा किया गया। **(क्रमश:)**

श्रीमत्सुरेश्वराचार्यविरचिता

नैष्कर्म्यसिद्धिः

व्याख्याकार : स्वामी धीरेशानन्द, सम्पादन : स्वामी ब्रह्मेशानन्द

आठवाँ श्लोक

वेदावसानवाक्योत्थसम्यग्ज्ञानाशुशुक्षणिः।
दन्दहीत्यात्मनो मोहं न कर्माऽप्रतिकूलतः।।८।।

वेदान्त वाक्य से उत्पन्न सम्यग् ज्ञानरूपी अग्नि आत्मा के मोह को पुनः पुनः जला डालती है। किन्तु कर्म (अज्ञान का) विरोधी न होने से यह नहीं कर सकता।

इस श्लोक में प्रतिज्ञात पुरुषार्थ का हेतु बताया गया है। वह है, वेदान्त वाक्य द्वारा उत्पन्न सम्यग् ज्ञान। सम्यग् ज्ञान अविद्या तथा उसके कार्यादि का पूर्ण रूप से निवारण करने में समर्थ है। इस लक्षण में यंग्लुक प्रत्यय का प्रयोग किया गया है, जिसका प्रयोग पुनः पुनः के अर्थ में होता है।

क्या कर्म से अज्ञान का नाश नहीं हो सकता? नहीं, क्योंकि कर्म अज्ञान का विरोधी नहीं है। नाश वहीं सम्भव है, जहाँ विरोध हो। जैसे, अन्धकार और आलोक, शेर और बकरी परस्पर विरोधी हैं। समुचित या असमुचित किसी भी प्रकार का कर्म मुक्ति का साधन नहीं है, यह ग्रन्थ में पुनः पुनः विस्तार से बताने के लिए यहाँ पर संक्षेप में इसका उल्लेख किया गया है। अज्ञान और कर्म, दोनों जड़ हैं। जड़ से जड़ का नाश सम्भव नहीं है।

९ से २१ श्लोक तक का सारांश

मीमांसकों के कर्मकाण्ड रूपी पूर्वपक्ष का खंडन करने के लिए पहले इन श्लोकों में इसी पूर्वपक्ष का उत्थापन किया है। ये दो हैं –

१. कुमारिल भट्ट का भाट्टमत

२. कुमारिल भट्ट के शिष्य प्रभाकर का प्राभाकर या गुरुमत

१. भाट्टमतावलम्बी ज्ञान को स्वीकार करते हैं, पर उसे गौण मानते हैं तथा कर्म को ही मोक्ष का मुख्य साधन मानते हैं। वे ज्ञान को अभ्युपगम्य करके कर्म का पक्ष प्रतिपादित करते हैं। किसी सिद्धान्त को थोड़ी देर के लिए स्वीकार करना, पर बाद में उसी का दोष दिखाना यह अभ्युपगमवाद कहलाता है।

२. प्राभाकरवादी – ये लोग ज्ञान को स्वीकार ही नहीं करते।

९-१० श्लोक – कर्म द्वारा मुक्ति-सिद्धि होने से ज्ञान व्यर्थ है। काम्यकर्म तथा निषिद्ध कर्म का त्याग तथा नित्य-नैमित्तिक कर्म करते रहने से मोक्ष होता है। काम्यकर्म त्याग से उनका फल देवलोकादि में गमन को स्पर्श नहीं करता। निषिद्ध कर्म के त्याग से नरकादि अधः योनि प्राप्त नहीं होती। वर्तमान शरीर जिन प्रारब्ध कर्मों के कारण हुआ है, वे पुण्य और पाप के भोग से क्षय हो जायेंगे। नित्य कर्म के अनुष्ठान से प्रत्यवाय नहीं होता, अतः केवल नित्यादि कर्म करने चाहिए।

मीमांसकों का यह सिद्धान्त एकभविकवाद कहलाता है। वे लोग संचित कर्म स्वीकार नहीं करते। प्रारब्ध क्षय होने पर एक ही जन्म में मुक्ति हो जाती है।

मीमांसकों के अनुसार श्रुति-स्मृति सभी शास्त्र बहुत यत्नपूर्वक कर्मानुष्ठान का ही प्रतिपादन करते हैं। वेद तो सिद्ध वस्तु (ब्रह्म) परक नहीं हैं, किन्तु साध्य अथवा कर्मपरक हैं। क्योंकि शास्त्र तो अज्ञात-ज्ञापक होते हैं। ब्रह्म सिद्ध वस्तु है, स्वर्गादि साध्य हैं। 'नदी के किनारे अनेक पेड़' यह करने का क्या लाभ?

कैवल्य का स्वरूप तो देहपात के उत्तरकाल का ही है। जीवन्मुक्ति तो परिभाषा मात्र है।

अज्ञान की निवृत्ति ज्ञान से ही सम्भव है, यह बात तो अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा भी सिद्ध हो सकती है। इसके उत्तर में मीमांसक कहते हैं कि यदि अज्ञान निवृत्तिमात्र से कैवल्य हो, तो यह सम्भव है, पर मुक्ति तो अदृष्ट फल है एवं देहपात के उत्तर काल में होती है। अतः कर्म आवश्यक है।

मीमांसक जैमिनि के वचनों को प्रमाण मानते हैं, जिन्होंने कहा है कि वेदों के जिन अंशों में कर्म का विधान नहीं है, वे अनर्थक या निरर्थक हैं तथा कुर्वन्नेवेह कर्माणि, इत्यादि वेदों के वाक्य को प्रमाण स्वरूप उद्धृत करते हैं।

१९वें श्लोक में कहा गया है कि वाक्य में क्रियापद सबसे महत्त्वपूर्ण होता है। उसके अभाव में न तो वाक्य का संतोषजनक अर्थ निकलता है और न ही वाक्य के अन्य पदों का परस्पर सम्बन्ध स्पष्ट होता है। फिर कोई पदरहित ऐसा वाक्य भी नहीं हो सकता, जो ज्ञान का विधान करता हो। **(क्रमशः)**

ध्यान-धारणा मिटावे बैर-भावना

डॉ. शरत् चन्द्र पेंढारकर

लोकमान्य तिलक स्वतन्त्रता-सेनानी थे। जीवन-भर कर्म में विश्वास रखनेवाले इस देशभक्त को ब्रिटिश सरकार द्वारा राष्ट्रद्रोह के अपराध में मंडाले के जेल में रखा गया। जेल में किसी भी प्रकार की कोई सुविधा न थी। एक नौकर था, जो गूंगा-बहरा था। बहुत ही कम आता था। तिलकजी इशारों-इशारों से उससे अपनी बात बताने का प्रयास करते थे। रात अंधेरे में बितानी पड़ती थी। मच्छरों की भरमार थी। काटते तो थे ही, भनभनाहट से नींद में दखल देने की कोशिश करते थे। दूसरे कैदियों से अलग उनकी एकान्त में कोठरी थी। इतना सब होते हुए भी वे जानते थे कि वे एक कैदी हैं। यहाँ कुछ बोलना 'नक्कारखाने में तूती की आवाज' ही होगी। फिर भी मन को विक्षुब्ध नहीं होने देते थे।

उन जैसे कर्मठ व्यक्ति के लिए निष्क्रिय रहकर जीवन बिताना सम्भव न था। कोठरी में कदम रखते ही उन्होंने निर्णय लिया था कि अपना समय वे लेखन में बिताएँगे। उन्होंने जब जेलर से कलम-दावात की माँग की, तो उन्हें पेन्सिल दी गई। उसी से उन्होंने गीता पर मराठी में भाष्य लिखना शुरू किया। पेन्सिल से बारीक अक्षर में नियमित रूप से लेखन करने लगे। उनके आसपास पक्षी उड़ते-चहकते रहते थे, किन्तु तिलकजी इतनी एकाग्रता से लेखन-कार्य में तल्लीन रहते थे कि पक्षियों की ओर उनका ध्यान जाता ही नहीं था।

एक दिन जेलर जब उनकी कोठरी में आया, तो वह यह देख दंग रह गया कि तिलकजी लेखन में मग्न हैं और कुछ पक्षी उनके कंधों पर और आसपास अपना डेरा जमाये हुए हैं। जेलर को वह पढ़ा हुआ याद आया, जिसमें इस बात का उल्लेख था कि सेन्ट फ्रान्सिस को पक्षियों की भाषा अवगत होने से वे उनसे बोलते थे। पक्षी निर्भय होकर उनके पास मंडराते रहते थे। जेलर ने सोचा कि निश्चय ही यह व्यक्ति पहुँचा हुआ संत है। उसने श्रद्धा से तिलकजी को प्रणाम किया। यह देख तिलकजी झेंप गए और बोले, ''एक कैदी के सामने आप जैसे ऊँचे पदाधिकारी का सिर झुकाना आपके पद को शोभा नहीं देता।'' जेलर ने कहा, ''आप सचमुच महान हैं। आपको मैं आज तक परख नहीं पाया। पक्षियों को निर्भीकता से आपके पास आसन जमाये देख मैं हैरान हूँ। आपको यह कैसे साध्य हुआ?'' तिलकजी ने कहा, ''योगाभ्यास से मनुष्य के मन में निर्वैरवृत्ति जागृत होती है।'' 'निर्वैर' शब्द सुनते ही जेलर बोल उठा, ''किन्तु आप तो हमको बैरी मानते हैं। पक्षियों को निर्वैरी और हम अंग्रजों को बैरी मानना, यह तो न्यायोचित नहीं हुआ।''

''लगता है, आपको गलतफहमी हुई है।'' तिलकजी ने कहा, ''यह आपसे किसने कहा कि अंग्रजों को मैं बैरी मानता हूँ। मैं विरोधी हूँ ब्रिटिश साम्राज्यवाद का, उसकी दमनकारी वृत्तियों का। अंग्रजों के प्रति मेरे मन में जरा भी ईर्ष्या-द्वेष नहीं है।'' ''आश्चर्य है ! आप तो अपने देशवासियों से एकदम अलग हैं।'' आश्चर्यचकित हो जब जेलर ने कहा, तो तिलकजी ने कहा, ''मैं प्रतिदिन एक घंटा ध्यान-धारणा करता हूँ। इससे मन निष्कलुष हो जाता है, किसी के प्रति कुविचार मन में नहीं उठते और सबके प्रति सद्भावना जागृत होती है।'' जेलर प्रणाम करके चला गया। तिलकजी ने प्रतिकूल परिस्थिति में जेल में ही ज्ञान और भक्तियोग की समन्वित धारा को 'गीतारहस्य' ग्रन्थ के रूप में प्रस्तुत किया।

ध्यान-धारणा से मन की इन्द्रियों पर नियन्त्रण बना रहता है। इससे राग-द्वेष, अहंता, बैर, प्रतिशोध आदि कुप्रवृत्तियों का लोप होकर संवेदनशीलता के भाव प्रस्फुटित होते हैं। मनुष्य का व्यक्तित्व निखर उठता है तथा परिष्कृत और पुष्ट हो जाता है। निश्चिन्तता के कारण सारे अवसाद दूर हो जाते हैं। ○○○

पृष्ठ २१२ का शेष भाग

बल की खोज। वे पहले से ही इस सिद्धान्त के बारे में बहुत सोचते थे। कहते हैं कि एकबार न्यूटन जब अपने घर के बगीचे में बैठे हुए थे, तब अचानक उन्होंने एक सेब गिरते हुए देखा। वे सोचने लगे कि यह सेब ऊपर न गिरकर नीचे ही क्यों गिरा? क्या यह कोई आकर्षण-शक्ति है, जिसकी शक्ति इतनी ऊँचाई तक है, जहाँ चन्द्रमा है? क्योंकि चन्द्रमा तो कभी नहीं गिरता? तब वे केवल तेईस वर्ष के थे।

न्यूटन की गुरुत्वाकर्षण और अन्य खोजों से उनके मित्र खगोलशास्त्री एडमंड हैली बहुत आकर्षित हुए और उन्होंने इन खोजों को पुस्तकाकार में प्रकाशित किया। वह पुस्तक बहुत प्रसिद्ध हुई और उसका नाम था – प्रिंसिपिया। ○○○

लघु-वाक्यवृत्ति

श्रीशंकराचार्य

(अनुवाद : स्वामी विदेहात्मानन्द)

नष्टे पूर्व-विकल्पे तु यावदन्यस्य नोदयः ।
निर्विकल्पक-चैतन्यं स्पष्टं तावद्विभासते ।।११।।

अन्वयार्थ – **पूर्व-विकल्पे** पिछली बुद्धिवृत्ति के **नष्टे** नष्ट हो जाने के बाद, **तु** परन्तु **यावत्** जब तक **अन्यस्य** दूसरी (बुद्धिवृत्ति का) **उदयः** उदय **न** नहीं होता, **तावत्** तब तक (उस अन्तराल में) **निर्विकल्पक-चैतन्यं** वृत्तिहीन शुद्ध चैतन्य **स्पष्टं** स्पष्ट रूप से **विभासते** चमकता है।

भावार्थ – पिछली बुद्धिवृत्ति के नष्ट हो जाने पर, परन्तु जब तक दूसरी (बुद्धिवृत्ति का) उदय नहीं होता, तब तक (उस अन्तराल में) वृत्तिहीन शुद्ध चैतन्य स्पष्ट रूप से चमकता है।

– टीका –

किंच बुद्धि-वृत्ति-रूपे पूर्व-विकल्पे नष्टे सति यावत् बुद्धि-वृत्ति-रूपस्य अन्यस्य विकल्पस्य उदयः आविर्भावः न भवति, तावत् स्पष्टं निर्विकल्पक-चैतन्यं शुद्धात्म-स्वरूपं शुद्धत्वं-पदलक्ष्यं विभासते, निर्वृत्तिकम् अन्तःकरणं शुद्ध-चैतन्य-रूपेण कूटस्थेन अनुभूयते इत्यर्थः। अतः एव उक्तम् – 'जागरेऽपि धियस्तूष्णीं-भावः शुद्धेन भास्यते' इति ।।

– भावार्थ –

इसके अतिरिक्त, एक बुद्धि-वृत्ति रूप पूर्व विकल्प के नष्ट हो जाने पर, जब तक दूसरी बुद्धि-वृत्ति रूप पूर्व विकल्प का उदय नहीं होता, उस अन्तराल के बीच स्पष्ट रूप से शुद्धात्म-स्वरूप, शुद्ध 'त्वम्'-पद का वाच्य निर्विकल्प चैतन्य प्रकाशित होता है। दूसरे शब्दों में, तब शुद्ध चैतन्य-रूपी कूटस्थ के द्वारा वृत्तिरहित अन्तःकरण का बोध होता है। अतः पहले (५वें श्लोक में) कहा गया है – 'जाग्रत अवस्था में भी बुद्धि की शान्त (अविकृत) अवस्था शुद्ध चैतन्य के द्वारा प्रतिभात होती है'।।११।।

एकद्वित्रिक्षणेनैवं विकल्पस्य निरोधनम् ।
क्रमेणाभ्यस्यतां यत्नाद्-ब्रह्मानुभवकांक्षिभिः ।।१२।।

अन्वयार्थ – **एवं** ऐसी स्थिति में **ब्रह्मानुभव-कांक्षिभिः** ब्रह्म की अनुभूति के आकांक्षियों को **यत्नात्** यत्नपूर्वक **क्रमेण** क्रमशः **एक-द्वि-त्रिक्षणेन** एक-दो-तीन (या उनसे अधिक) क्षणों के लिये **विकल्पस्य** बुद्धि-वृत्तियों के **निरोधनम्** निरोध का **अभ्यस्यताम्** अभ्यास करना चाहिये।

भावार्थ – ऐसी स्थिति में ब्रह्म की अनुभूति के आकांक्षियों को चाहिये कि वे यत्नपूर्वक क्रमशः एक-दो-तीन (या उनसे अधिक) क्षणों के लिये बुद्धि-वृत्तियों के निरोध का अभ्यास करें।

– टीका –

एवम् अनुभवः शुद्धान्तःकरणैः सम्पादनीयः इति आह – एकेति। ब्रह्मानुभव-काङ्क्षिभिः मुमुक्षुभिः एक-द्वि-त्रि-क्षणेन एवम् अनुक्रमेण प्रयत्नात् विकल्पस्य अन्तःकरण-वृत्ति-मात्रस्य निरोधनम् अभ्यस्यताम्। अन्तःकरणं निर्वृत्तिकं कृत्वा शुद्ध-चैतन्य-स्वरूपानुभवः ज्ञानिना अनुभवितुं शक्यते इत्यर्थः ।।

– भावार्थ –

अब 'एक' आदि से बताते हैं कि पूर्वोक्त अनुभूति को शुद्ध अन्तःकरण के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। ब्रह्म-अनुभूति के आकांक्षी मुमुक्षुओं को चाहिये कि वे प्रयत्न के द्वारा एक, दो, तीन – इसी प्रकार क्रम से आनेवाली अन्तःकरण की समस्त वृत्तियों के निरोध का अभ्यास करें। इसी प्रकार अन्तःकरण को वृत्तिशून्य करके ज्ञानी लोग शुद्ध चैतन्य स्वरूप का अनुभव करने में समर्थ हो जाते हैं।।१२।।

सविकल्पक-जीवोऽयं ब्रह्म स्यान्निर्विकल्पकम् ।
अहं ब्रह्मेति वाक्येन सोऽयमर्थोऽभिधीयते ।।१३।।

अन्वयार्थ – **अयं** यह **सविकल्पक-जीवः** विभिन्न परिवर्तनों से युक्त जीव – **अहं ब्रह्म इति वाक्येन** 'मैं ब्रह्म हूँ' इस वाक्य की साधना (तथा अनुभूति) से **निर्विकल्पकम्** निर्विकार **ब्रह्म** ब्रह्म **स्यात्** हो जाता है, **सः अयं अर्थः** उसी तात्पर्य की यहाँ (ग्रन्थ में) **अभिधीयते** व्याख्या की जा रही है।

अन्वयार्थ – यह विभिन्न परिवर्तनों से युक्त जीव – 'मैं ब्रह्म हूँ' इस वाक्य की साधना (तथा अनुभूति) से निर्विकार ब्रह्म हो जाता है, उसी तात्पर्य की इस ग्रन्थ में व्याख्या की जा रही है।

– टीका –

एतत् एव प्रतिपादयन् आह-सविकल्पक जीव इति। गुरुशास्त्र-आदि-उपदेशात् पूर्वम् अयं सविकल्पक-चैतन्य-रूपः जीवः ज्ञानोपदेश-समये अहं ब्रह्मेति महा-वाक्यानुभवेन निर्विकल्पं शुद्ध-सत्-चित्-आनन्द-स्वरूपं ब्रह्मैव स्यात्, सः अयम् उपनिषद्भिः प्रतिपादितः अर्थः अस्मिन् ग्रन्थे अभिधीयते, प्रतिपाद्यते, यथा रज्जुसर्पः रज्जु-अतिरिक्तः नास्ति एवं जीवः अपि ब्रह्म-व्यतिरिक्तः नास्ति इति एवं वेदान्त-मर्यादा इत्यर्थः ।।

— भावार्थ —

'सविकल्पक जीव' आदि से अब उसी का प्रतिपादन करते हैं। गुरु, शास्त्र आदि से उपदेश पाने के पूर्व यह सविकल्पक जीव – ज्ञानोपदेश के बल पर 'मैं ब्रह्म हूँ' – इस महावाक्य के अनुभव द्वारा निर्विकार शुद्ध सत्स्वरूप, चित्स्वरूप तथा आनन्द-स्वरूप ब्रह्म ही हो जाता है – उपनिषदों द्वारा इसी प्रकार प्रतिपादित अर्थ को ही इस ग्रन्थ में भी प्रस्तुत किया गया है। जैसे रज्जु-सर्प (के दृष्टान्त) में रज्जु के सिवा अन्य कोई सत्ता नहीं है, वैसे ही ब्रह्म से भिन्न जीव का भी कोई अस्तित्व नहीं है – यही वेदान्त का सार-तत्त्व है॥१३॥

सविकल्पक-चिद्योऽहं ब्रह्मैकं निर्विकल्पकम् ।
स्वतःसिद्धा विकल्पास्ते निरोद्धव्याः प्रयत्नतः ।।१४।।

अन्वयार्थ – **यः** जो **सविकल्पक-चित्** विकारयुक्त चैतन्य-रूप **अहं** मैं (वस्तुतः) **ब्रह्म एकं** ब्रह्म के साथ एक **निर्विकल्पकम्** निर्विकार सत्ता हूँ। **ते** वे (जो) **स्वतः सिद्धाः** स्वभाव से ही सिद्ध **विकल्पाः** विविध उपाधि-रूप विकार हैं, (उनका) **प्रयत्नतः** प्रयासपूर्वक **निरोद्धव्याः** निरोध करना चाहिये।

भावार्थ – विकारयुक्त चैतन्य मैं (वस्तुतः) ब्रह्म के साथ एक और निर्विकार सत्ता हूँ। ये (जो) स्वभाव से ही सिद्ध विविध उपाधि-रूप विकार हैं, (इनका) प्रयासपूर्वक निरोध करना चाहिये।

— टीका —

किंच सविकल्पक-चैतन्य-रूपः अपि जीवः निर्वृत्तिके अन्तःकरणे अभ्यास-वशात् कृते सति, निर्विकल्पकं शुद्ध-बोध-स्वरूपम् एकम् अखण्डं ब्रह्मैव भवति, अतः स्वतःसिद्धाः विकल्पाः अन्तःकरण-वृत्तयः प्रयत्नतः वृत्ति-उत्पत्ति-निरसनेन निरोद्धव्याः, वृत्ति-रहितान्तःकरणे शुद्ध-चैतन्य-स्वरूपम् अनुभूयते अतः वृत्तिरहितम् अन्तःकरणं कृत्वा आत्मसुखम् अखण्डम् अनुभूयताम् इत्यर्थः ।।

— भावार्थ —

इसके अतिरिक्त, सविकार चैतन्य-स्वरूप होकर भी, अन्तःकरण वृत्तिशून्य हो जाने पर तत्त्व के अभ्यास के कारण – जीव निर्विकार शुद्ध ज्ञानस्वरूप अखण्ड ब्रह्म ही हो जाता है। अतः स्वतःसिद्ध अन्तःकरण के विकारों की वृत्तियों का, (अज्ञान में) उनकी उत्पत्ति के समय ही नाश करके, यत्नपूर्वक निरोध करना चाहिये। वृत्तिशून्य अन्तःकरण में ही शुद्ध-चैतन्य-स्वरूप की अनुभूति होती है; अतः अन्तःकरण को वृत्तिरहित करके अखण्ड आत्मसुख का रसास्वादन करना चाहिये॥१४॥

शक्यः सर्वनिरोधश्चेत्समाधिर्ज्ञानिनां प्रियः ।
तदशक्तौ क्षणं रुध्वा श्रद्धेया ब्रह्मताऽत्मनः ।।१५।।

अन्वयार्थ – **शक्यः चेत्** यदि सम्भव हो, तो **सर्वनिरोधः** समस्त उपाधियों का निरोध करके **समाधिः** पूर्ण एकाग्रता (की प्राप्ति करे, जो) **ज्ञानिनाम्** ज्ञानियों का **प्रियः** प्रिय (लक्ष्य) है। **तत् अशक्तौ** वह असम्भव हो, तो **श्रद्धेया** श्रद्धापूर्वक **क्षणं** क्षण भर के लिये ही सही, (उपाधियों का) **रुध्वा** नियंत्रण करके **आत्मनः** अपना **ब्रह्मता** ब्रह्मभाव (पाने का प्रयास करना चाहिये)।

भावार्थ – यदि सम्भव हो, तो समस्त उपाधियों का निरोध करके पूर्ण एकाग्रता (की प्राप्ति करे, जो) ज्ञानियों का प्रिय (लक्ष्य) है। वह असम्भव हो, तो श्रद्धापूर्वक क्षण भर के लिये ही (उपाधियों का) नियंत्रण करके अपना ब्रह्मभाव (पाने का प्रयास करना चाहिये)।

— टीका —

तत् एव उपपादयति – शक्यः इति ।। यदि सर्व-वृत्ति-निरोधः शक्यः भवेत् तर्हि ज्ञानिनां वसिष्ठादीनां प्रियः इष्टः समाधिः एव स्यात् । अथ तत् अशक्तौ सर्वदा अन्तःकरण-वृत्ति-निरोध-असामर्थ्ये सति, क्षणं रुध्वा क्षण-मात्रमपि वृत्ति-निरोधं कृत्वा आत्मनः ब्रह्मता श्रद्धेया अनुसन्धेया । तथा च श्रुतिः – 'यदा पंचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह। बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम् ।। 'तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रिय-धारणाम्। अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ।' इति ।।

— भावार्थ —

'शक्यः' आदि के द्वारा पूर्वोक्त तत्त्व को ही पुनः समझाते हैं। यदि चित्त की समस्त वृत्तियों का निरोध हो सके, तो वह समाधि ही हो जाता है, जो वसिष्ठ आदि ज्ञानियों का प्रिय है। (परन्तु) यदि वैसा न हो सके, अर्थात् (व्यक्ति) अन्तःकरण की वृत्तियों के पूर्ण निरोध में असमर्थ हो जाय, तो क्षण मात्र के लिये ही वृत्तियों का निरोध करके श्रद्धापूर्वक अपने ब्रह्मत्व का अनुसन्धान करना चाहिये। श्रुति कहती है – "जब मन के साथ पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ आत्मा में स्थित हो जाती हैं, जब बुद्धि भी निश्चेष्ट (शान्त) हो जाती है, उसी को परम गति कहते हैं। इन्द्रियों की इस स्थिरता को ही योग कहा गया है। तब साधक को अप्रमत्त अर्थात् सावधान रहना चाहिये, क्योंकि इस 'योग' की प्राप्ति होती है और विनाश भी होता है।" (कठोपनिषद्, २/३/१०-११)

स्वामी विवेकानन्द के प्रिय गुडविन (३)

प्रव्राजिका व्रजप्राणा

(स्वामी विवेकानन्द की ग्रन्थावली का अधिकांश भाग गुडविन द्वारा लिपिबद्ध व्याख्यान-मालाएँ हैं। उनकी आकस्मिक मृत्यु पर स्वामीजी ने कहा था, ''गुडविन का ऋण मैं कभी चुका नहीं सकूँगा।... उसकी मृत्यु से मैं एक सच्चा मित्र, एक भक्तिमान शिष्य तथा एक अथक कर्मी खो बैठा हूँ। जगत् में ऐसे अति अल्प लोग ही जन्म लेते हैं, जो परोपकार के लिये जीते हैं। इस मृत्यु ने जगत् के ऐसे अल्पसंख्यक लोगों की संख्या एक और कम कर दी है।'' गुडविन के संक्षिप्त जीवन का अनुवाद पाठकों के लाभार्थ यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

स्वामीजी का कार्यभार दुष्कर तो था ही, किन्तु गुडविन की भी दिनचर्या दुष्कर थी। स्वामीजी की कक्षाएँ दीर्घ होती थीं और उनकी बोलने की शैली भी द्रुत रहती थी। गुडविन स्वामीजी की सुबह और शाम दोनों कक्षाओं को शॉर्टहैन्ड में लिख लेते थे और इस समय के बीच वे इसे टाईप कर परिष्कृत कर लेते थे। ये प्रतिलिपियाँ मद्रास में ब्रह्मवादिन् पत्रिका (जो सितम्बर, १८९५ में स्वामीजी के आह्वान पर आरम्भ की गई थी) के लिए भेजी जाती थीं। स्वामीजी ने आलासिंगा को पत्र में लिखा था, ''मैं तुम्हें भक्ति विषय पर कुछ प्रतिलिपियाँ और कर्मयोग पर एक व्याख्यान भेज रहा हूँ। मेरे पाठवर्गों को लिपिबद्ध करने के इन्होंने एक स्टेनोग्राफर नियुक्त किया है। इसलिए तुम्हें (पत्रिका के लिए) अब प्रचुर सामग्री मिल जाएगी।''

जनवरी में स्वामीजी ने न्यूयॉर्क के हार्डमैन हॉल में प्रति रविवार अपराह्न में सार्वजनिक व्याख्यानमाला आरम्भ की। इन व्याख्यानों को गुडविन शॉर्टहैन्ड में लिख लेते थे और बाद में टाईप करते थे। स्वामीजी का प्रथम रविवासरीय व्याख्यान था – धर्म का दावा, उसकी वास्तविकता और एकता। उनका दूसरा व्याख्यान था – सार्वजनीन धर्म का आदर्श। पुस्तिका के रूप में प्रकाशित होने वाला उनका यह प्रथम व्याख्यान था। इन पुस्तिकाओं का विक्रय मूल्य रखा गया था और न्यूयॉर्क वेदान्त सोसायटी के पास इसके प्रकाशनाधिकार थे। न्यूयॉर्क वेदान्त सोसायटी के पदाधिकारियों ने छपाई के खर्च और गुडविन का अत्यल्प वेतन को चुकाने के लिए धन संग्रह किया था। गुडविन स्वामीजी के व्याख्यान को पहले शॉर्टहैन्ड में लिखते और तुरन्त टाईप कर उसका प्रथम प्रारूप तैयार कर लेते थे। कुमारी वाल्डो द्वारा इसका सम्पादन होने के बाद स्वामीजी को पढ़ने के लिए दिया जाता था। संशोधित संस्करण को पुन: गुडविन द्वारा टाईप कराने के बाद उसे छपाईखाने में भेजा जाता था। इस प्रकार यह पूरी प्रक्रिया कुछ ही दिनों में पूर्ण की जाती थी। आगामी सप्ताह के व्याख्यान में ये पुस्तिकाएँ दस सेन्ट के विक्रय मूल्य में बेची जाती थी। आगामी दो सप्ताहों में स्वामीजी के व्याख्यान का विषय था – विश्व : बृहत् ब्रह्माण्ड और विश्व : सूक्ष्म ब्रह्माण्ड। प्रथम पुस्तिका का जिस पद्धति से प्रकाशन हुआ था, उसी प्रकार इन दोनों व्याख्यानों को 'द कॉस्मोस' पुस्तिका के रूप में प्रकाशित किया गया।

जनवरी के मध्य में स्वामीजी द्वारा प्रदत्त कर्मयोग की कक्षाएँ पूरी हुई। फरवरी तक कर्मयोग पुस्तक भी प्रकाशन के लिए तैयार हो चुकी थी। स्वामीजी की नई कक्षाओं की सूची इस प्रकार थी (इसे प्रथम पुस्तिका के पृष्ठ भाग में दिया गया था) –

प्रवचन-कक्षाएँ (२२८ वेस्ट, ३९ स्ट्रीट, न्यूयॉर्क सिटी)

प्रति सोमवार – 'भक्तियोग', सुबह ११, रात्रि ८ बजे

प्रति बुधवार – 'ज्ञानयोग', सुबह ११, रात्रि ८ बजे

प्रति शुक्रवार – 'प्रश्नोत्तर', रात्रि ८ बजे

प्रति शनिवार – 'राजयोग', सुबह ११, रात्रि ८ बजे

उपरोक्त सूची में स्वामीजी के कार्यों की कठोर-दिनचर्या तो प्राप्त होती है, साथ ही इसमें आगामी पीढ़ी के आध्यात्मिक साधकों के लिए स्वाध्याय-ग्रन्थों की सामग्री भी प्राप्त होती है।

स्वामीजी द्वारा ज्ञानयोग पर प्रदत्त विशेष कक्षाओं का प्रकाशन परवर्तीकाल में 'धर्म का विज्ञान और दर्शन' पुस्तिका के रूप में हुआ।

स्वामीजी के राजयोग नामक पुस्तक में जो प्रथम आठ अध्याय हम देखते हैं, वे उनके राजयोग-वर्गों में प्रदत्त प्रस्तावनारूप व्याख्यानों की प्रतिलिपियाँ हैं। स्वामीजी पातंजल योगसूत्र का अनुवाद करना चाहते थे। उन्होंने कुमारी वाल्डो को इसे बोलकर लिखवाया था और इसमें अपनी टीका भी जोड़ी थी। राजयोग पुस्तक में जो योगसूत्र हैं, वे स्वामीजी द्वारा कुमारी वाल्डों को दिए गए श्रुतलेख और राजयोग पर दी गईं उनकी विशेष कक्षाओं का गुडविन द्वारा प्रतिलिखित सामग्री का संकलन है।

स्वामीजी द्वारा भक्तियोग पर प्रारम्भिक जिज्ञासुओं के लिए दिए गए छ: अथवा सात कक्षाओं का प्रतिलेखन गुडविन ने किया था और उसे बाद में 'भक्तियोग पर प्रवचन' नामक पुस्तिका के रूप में प्रकाशित किया गया। इस पुस्तिका को बाद में स्वामीजी के न्यूयॉर्क में प्रदत्त व्याख्यान 'भक्ति' से मिलाकर

प्रेमयोग नामक पुस्तक प्रकाशित की गई।

भक्तियोग पुस्तक के प्रथम भाग की सामग्री स्वामीजी की भक्तियोग की कक्षाओं से नहीं ली गई थी, किन्तु वे स्वामीजी द्वारा दिसम्बर १८९५ और जनवरी १८९६ में उनके द्वारा लिखित लेखों का संकलन था, जो उन्होंने ब्रह्मवादिन पत्रिका में प्रकाशित करने के लिए भेजे थे। भक्तियोग का दूसरा भाग स्वामीजी द्वारा इस विषय पर जनवरी और फरवरी १८९६ में लिए गए विशेष पाठवर्गों का संकलन था, जिसकी प्रतिलिपियाँ गुडविन ने तैयार की थीं। इन्हें मद्रास भेजा गया और स्वामीजी के ब्रह्मवादिन पत्रिका के अन्य लेखों के साथ जोड़कर भक्तियोग पुस्तक प्रकाशित की गई।

फरवरी के अन्त तक स्वामीजी के रविवासरीय व्याख्यान स्थल को एक बृहत् भवन में स्थानान्तरित किया गया। यह सभागृह न्यूयॉर्क सिटी के मेडिसन स्क्वायर गार्डन में था। स्वामीजी ने इस विषय में ई. टी. स्टर्डी को लिखा था, ''पिछले महीने मेरे व्याख्यान छोटे सभागार में थे, जिसकी क्षमता ६०० व्यक्तियों की थी। इन व्याख्यानों में व्यवस्था के अनुसार लगभग ९०० लोग आते थे, जिसमें ३०० लोगों को खड़ा होना पड़ता था। अन्य ३०० लोगों को जगह न मिलने के कारण वापस जाना पड़ता था। इसलिए इस सप्ताह मेरे व्याख्यान के लिए १२०० क्षमतावाले बृहत् सभागार की व्यवस्था की गई है।''

वस्तुत: मेडिसन स्क्वायर गार्डन की क्षमता १५०० लोगों की थी और स्वामीजी के व्याख्यान में यह सभागार पूरी तरह से भर जाता था। स्वामीजी की द्वितीय रविवासरीय व्याख्यानमाला भक्तियोग व्याख्यान से आरम्भ हुई। यह व्याख्यान इसी नाम से पुस्तिका के रूप में प्रकाशित हुआ। आगामी रविवार का व्याख्यान 'मनुष्य का वास्तविक और प्रातिभासिक स्वरूप' की भी पुस्तिका तैयार की गई। फरवरी का अन्तिम व्याख्यान 'मेरे गुरुदेव श्रीरामकृष्ण परमहंस' था। गुडविन ने इस व्याख्यान की प्रतिलिपि तैयार की और इसका बाद में उपयोग किया गया।

इसी महीने स्वामीजी ने इथिकल एसोसिएशन ऑफ ब्रुकलिन में 'आत्मा के रूप में ईश्वरत्व की हिन्दू धारणा' पर व्याख्यान दिया था। इस व्याख्यान में गुडविन स्वामीजी के साथ थे। उनके द्वारा आशुलिपि में लिखित यह व्याख्यान 'आत्मा' नामक पुस्तिका के रूप में प्रकाशित हुआ और बाद में इसे स्वामीजी के ज्ञानयोग पुस्तक में संयुक्त कर दिया गया।

गुडविन स्वामीजी से जितना अधिक सम्पर्क में आए, वे उतना ही अधिक उनके संस्पर्श में आने की इच्छा करने लगे। वे मानो स्वामीजी की छाया बन गए थे। स्वामीजी जहाँ जाते, वे उनके साथ जाते और उनकी कोई भी सेवा करने का हर सम्भव प्रयास करते।

हम ऐसा सोच सकते हैं कि गुडविन का कार्य केवल स्टेनोग्राफी तक ही सीमित था। किन्तु यह जानने योग्य है कि गुडविन ने स्वामीजी की उनके व्यावसायिक लेन-देन और व्यक्तिगत कार्यों में भी सहायता की थी। उदाहरण के तौर पर एना कोर्बिन के घर पर दिए गए अपने छह व्याख्यानों के लिए स्वामीजी उनसे १०० डॉलर एकत्रित करना चाहते थे (कुमारी कोर्बिन धनाढ्य वर्ग की थीं और स्वामीजी अपने आगामी डिट्राइड प्रवास के खर्चे के लिए चिन्तित थे)। स्वामीजी ने गुडविन से इसे सुलझाने के लिए कहा। फरवरी, १८९६ में स्वामीजी ने एमा थर्सबी को पत्र में लिखा था, ''मेरे छ: व्याख्यानों का कुमारी कोर्बिन के साथ हुए व्यावसायिक अनुबन्ध का विवरण श्रीमान गुडविन को देने का कष्ट करें। वे उनसे भुगतान के विषय में सम्पर्क करेंगे।''

कुशल स्टेनोग्राफी के समान अन्य क्षेत्रों में भी गुडविन की कार्यक्षमता अद्भुत थी। स्वामीजी का उपरोक्त कार्य पूरा करने के बाद उन्होंने श्रीमती ओली बुल को लिखा था, ''शुक्रवार को कुमारी कोर्बिन से १०० डॉलर प्राप्त करने में मैं सफल रहा। स्वामीजी इसमें से अपने डेट्राइट का खर्च चुकाना चाहते थे, किन्तु मुझे लगा कि उनका ऐसा करना आपको अच्छा नहीं लगेगा, इसलिए मैंने उन्हें ऐसा न करने के लिए मनाया। मुझे लगता है कि मैने ठीक किया। मैंने उनका डेट्राइट का पत्र पढ़ा और उससे यह स्पष्ट है कि उनके खर्चे आदि की व्यवस्था वहाँ हो जाएगी।''

इन पत्रों में दो मुख्य बातें ध्यान देने योग्य हैं। पहली बात है, स्वामीजी और गुडविन के बीच स्थापित घनिष्ठ और विश्वसनीय मित्रता। यद्यपि उन्हें एक-दूसरे के सम्पर्क में आए लगभग दो महीने ही हुए थे, तो भी गुडविन उनके निर्देशों को पालन करने के अतिरिक्त आगे की सोच भी रखते थे। गुडविन अपने मत पर दृढ़ रहने के लिए स्वाधीनता का बोध करते थे और स्वामीजी से अपनी बात भी मना लेते थे। दूसरी उल्लेखनीय बात जो गुडविन के पत्र से प्राप्त होती है, वह है उनकी श्रीमती ओली बुल से सौहार्दपूर्ण घनिष्ठता, ऐसी आन्तरिक मित्रता जो उनके मृत्युपर्यन्त स्थायी रहने वाली थी। उनके बीच हुए नियमित पत्राचार से हमें आज स्वामीजी के कार्य की प्रगति का विस्तृत विवरण प्राप्त हो सका है। सचमुच यदि गुडविन द्वारा ओली बुल और बाद में जोसेफीन मेक्लाउड को लिखे गए पत्र नहीं होते, तो वेदान्त भावान्दोलन के प्रारम्भिक इतिहास के अनेक महत्त्वपूर्ण प्रसंगों से हमें वंचित हो जाना पड़ता। **(क्रमश:)**

रामकृष्ण मठ-रामकृष्ण मिशन के देश-विदेश के विभिन्न आश्रमों में सोल्लास राष्ट्रीय युवा दिवस मनाया गया

रामकृष्ण मिशन, अगरतला ने १२ जनवरी, २०१८ को एक सभा आयोजित की, जिसमें त्रिपुरा के मुख्यमन्त्री श्री मानिक सरकार और अन्य कई पदाधिकारियों ने भाग लिया। **रामकृष्ण मिशन, शिलांग** की १२ जनवरी की सभा में मेघालय के राज्यपाल श्री गंगाप्रसाद ने सम्बोधन भाषण दिया। **रामकृष्ण मिशन मंगलोर** ने १३ जनवरी को एक युवा सम्मेलन आयोजित किया, जिसका उद्घाटन नागालैण्ड के राजपाल श्री पद्मनाभा बी. आचार्य ने किया। शिविर में ७५० युवक उपस्थित थे। **रामकृष्ण मठ, हैदराबाद** में २६ और २७ जनवरी को भारतीय संस्कृति और दर्शन पर द्विदिवसीय राष्ट्रीय सेमीनार का आयोजन हुआ, जिसमें रामकृष्ण मठ-मिशन के महासचिव स्वामी सुवीरानन्द जी महाराज और अन्य वक्ताओं ने व्याख्यान दिये। लगभग १००० प्रतिनिधियों इस सेमीनार में भाग लिया। **इंस्टिट्यूट ऑफ कल्चर, कोलकाता** में १७, १८ जनवरी को भारतीय संस्कृति और दर्शन पर सेमीनार आयोजित हुआ, जिसमें अध्यक्ष, रामकृष्ण मठ, चेन्नई और रामकृष्ण मठ-मिशन के सह-संघाध्यक्ष स्वामी गौतमानन्द जी महाराज और रामकृष्ण मठ-मिशन के महासचिव स्वामी सुवीरानन्द जी महाराज ने सभा को सम्बोधित किया। सभा में २५५ प्रतिनिधि उपस्थित थे।

रामकृष्ण मठ, पुणे द्वारा २१ जनवरी को आयोजित सेमीनार में ३४३ प्रतिनिधियों ने भाग लिया।

रामकृष्ण मिशन, हलुसुरु (कर्नाटक) द्वारा १० जनवरी को आयोजित सार्वजनिक सभा में कर्नाटक के राज्यपाल श्री वजूभाई वाला ने सम्बोधित किया। इसमें लगभग ९०० लोगों ने भाग लिया।

श्रीरामकृष्ण देव की जन्मभूमि कामारपुकुर स्थित आश्रम में १२, १३, १४ जनवरी, को क्रमश: युवा सम्मेलन, भक्त सम्मेलन और शिक्षक सम्मेलन आयोजित किया, जिसमें कुल ३७५० प्रतिनिधियों ने भाग लिया। १६ और १७ जनवरी को आश्रम द्वारा आयोजित किसान मेला में ६०० किसानों ने भाग लिया।

रामकृष्ण मठ, नागपुर में ६, ७ और ८ जनवरी को गढ़चिरौली में युवा शिविर आयोजित हुआ, जिसमें १२०० युवकों ने भाग लिया। **रामकृष्ण मिशन, मोराबादी, राँची** ने टामर और बर्मू ब्लॉक में १७, २० दिसम्बर और १ जनवरी को युवा शिविर आयोजित किया, जिसमें लगभग १२४० प्रतिनिधि थे। आश्रम ने खूँटी जिला में २० जनवरी को किसान मेला आयोजित किया, जिसमें १०,००० किसानों ने भाग लिया। **स्वामी विवेकानन्द की जन्मभूमि स्थित आश्रम** द्वारा १५ जनवरी को आयोजित भक्त सम्मेलन में ४०० भक्त उपस्थित थे। इसके अतिरिक्त आश्रम में आठ व्याख्यान और कोलकाता के आसपास आठ व्याख्यान २२ दिसम्बर से २० जनवरी तक आयोजित हुए, जिनमें ७६०० लोगों ने श्रवण किया।

विवेकानन्द चेयर, पं. रविशंकर विश्वविद्यालय, रायपुर के तत्त्वावधान में १५ जनवरी को एक संगोष्ठी आयोजित हुई, जिसमें रामकृष्ण मठ, राजकोट के अध्यक्ष, स्वामी निखिलेश्वरानन्द, रामृकृष्ण मिशन, बेलूड़ मठ के स्वामी आत्मश्रद्धानन्द, विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के स्वामी प्रपत्त्यानन्द, पं. रविशंकर शुक्ल विश्वविद्यालय, रायपुर के कुलपति डॉ. एस. के. पाण्डेय, रायपुर संभाग के आयुक्त श्री बृजेश चन्द्र मिश्र, हरिभूमि के सम्पाद डॉ. हिमांशु द्विवेदी और विवेकानन्द चेयर प्रोफेसर और विवेकानन्द विद्यापीठ के सचिव डॉ. ओमप्रकाश वर्मा जी व्याख्यान दिये।

विवेकानन्द हवाई अड्डा, रायपुर, **छत्तीसगढ़ तकनीकी विश्वविद्यालय, भिलाई,** और **संस्कृति और पुरातत्त्व विभाग, रायुपर में भी** बड़े धूम-धाम से युवा महोत्सव मनाया गया। संस्कृति विभाग में आयोजित सभा में विवेकानन्द विद्यापीठ के सौ बच्चे विवेकानन्द के रूप में सजकर उपस्थित थे। वहाँ विभिन्न प्रतियोगितायें आयोजित हुई और बच्चों को पुरस्कार दिया गया। स्वामीजी की चित्र प्रदर्शनी भी लगाई गई। कार्यक्रम का संयोजन मुक्ति बैस ने किया। इस कार्यक्रम में स्वामी निखिलेश्वरानन्द, स्वामी आत्मश्रद्धानन्द, स्वामी अव्ययात्मानन्द, स्वामी प्रपत्त्यानन्द, और डॉ. ओमप्रकाश वर्मा ने व्याख्यान दिए। ○○○